दहकते अंगारे

(रोचक सामाजिक उपन्यास तथा पाँच कहानियाँ)

लेखक

नरोत्तमप्रसाद नागर

प्रकाशक
पं० विष्णुनारायण भार्गव
हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ

मूल्य
एक रुपया पाँच आना

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ.

जल उठे हैं तन बदन से ,
क्रोध में शिव के नयन से ।
खा गये निशि का अँधेरा ,
हो गया खूनी सवेरा ।

—श्री केदार—

अपनी बात

इस संग्रह में दिए हुए उपन्यास की बाह्य रूप-रेखा मेरे प्रिय मित्र श्री केदार ने तैयार की थी। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि इस उपन्यास को वह स्वयं पूरा करते। लेकिन यह काम उन्होंने मुझी पर छोड़ दिया। जो भी हो, यह उपन्यास मूल रूप में उन्हीं की देन है, अतः उन्हीं को, पाँच कहानियों के व्याज के साथ, समर्पित है।

अभ्युदय-कार्यालय,
इलाहाबाद

—नरोत्तमप्रसाद नागर

जीवन के चित्र

कम्यूनिस्टों की बात जाने दीजिए। उनसे अगर पूछिएगा तो वे यही कहेंगे—जिनके पास पैसा है, वे और कुछ भले ही हो जायँ, आदमी नहीं हो सकते। आदमी तो वही हैं, जिनके पास पैसा नहीं है, जैसे कि वे स्वयं!

लेकिन, सच पूछा जाय तो जिनके पास पैसा है, वे आदमी भी होते हैं और हृदय नाम की वस्तु भी अपने पास रखते हैं। यह बात अवश्य है कि उनका हृदय कभी-कभी पिघलना भूल जाता है, पिघलता भी है तो विचित्र ढंग से।

युद्ध-काल में एक ही बात होती है—मृत्यु का ताण्डव। कुछ भी कीजिए, मृत्यु से छुटकारा नहीं। युद्ध के मोरचे पर भी मरण, युद्ध के मोरचे से दूर—घर की चहारदीवारी के भीतर

भी मरण। अन्तर इतना ही है कि युद्ध के मोरचे पर मृत्यु का आगमन आकस्मिक तथा आनन-फानन होता है और घर के मोरचे पर धीरे-धीरे—तिल-तिल करके !

भूख की मार, गोली और बमों की तरह भीषण चाहे न हो, लेकिन दुःखदायी अधिक होती है। हम सब कुछ देख सकते हैं, लेकिन भूख से मरते हुए नर-कंकालों को नहीं। कुछ तो दया से, और कुछ दुःखद दृश्यों की यंत्रणा से बचने के लिए, हम चाहते हैं कि भूख की मार कम हो जाय, यह भी न हो सके तो उसे किसी प्रकार आँखों की ओट तो कर ही दिया जाय।

भूख की यह मार जब तक आँखों की ओट रही, लोग दूर-देहातों में चुपचाप, धीरे-धीरे मरते रहे। हम भी शान्त और स्थिर बने रहे, लेकिन यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। भूख की मार के दृश्य बाजारों में, गलियों में—ठीक हमारे घरों के सामने, दिखाई पड़ने लगे।

लोगों के हृदय पिघलना शुरू हुए। पैसेवालों की आदमियत बाहर आई। थैलियों के मुँह खुलने लगे, लेकिन विचित्र ढंग से। एक ओर भूखों के लिए दान करते, दूसरी ओर रास-रंग भी चलता। एक साहब से पूछा तो कहने लगे— "आप भी विचित्र बात करते हैं। भूख के दृश्य इतने भीषण हैं कि उनकी वेदना को भुलाने के लिए हमें यह सब करना ही पड़ता है। अगर हम इतना न करें तो पागल हो जायँ !"

मैं उनके मुँह की ओर एकटक देख रहा था और देखते-देखते किसी दूसरी जगह पहुँच गया था। मुझे पता भी न चला कि कब वह अपनी बात कहकर चुप हो गए। मेरी आँखों के सामने एक दूसरा ही चित्र खिंचा हुआ था—कराँची के एक

सेठ का। भूख की मार ने उन्हें भी परेशान किया और उनका हृदय पिघलकर पानी बन चला। हृदय उनका बहुत ही कोमल था। उन्होंने देखा और शायद सोचा, आदमी तो अपने हृदय की वेदना को व्यक्त भी कर सकता है ; किन्तु पशु-पक्षी तो कुछ कह भी नहीं सकते। उनकी मूक वेदना...!

सेठजी का हृदय व्यथित हो उठा—शायद पागल होने की हद तक व्यथित हो उठा। चैकबुक उन्होंने उठाई और पाँच सौ का चैक काट दिया—मानव-जाति की जान-माल के रक्षक कुत्तों को भूख की मार से बचाने के लिए !

मानव-जाति की जान-माल के रक्षक ! लेकिन मानव-जाति के पास जान-माल का कुछ शेष रहा हो तब न ! एक दूसरा चित्र आँखों के सामने घूम गया। शिवपुर—बंगाल का दृश्य। एक सम्पन्न परिवार के यहाँ से उच्छिष्ट भात बाहर फेका गया। उसे लेने के लिए एक भूखे लड़के और कुत्ते में लड़ाई हो गई। कुत्ते ने लड़के को बुरी तरह घायल कर दिया। अन्त में उस लड़के को अस्पताल पहुँचाया और कुत्ता वहीं, घर के आस-पास मँडराता रहा।

भूख की मार के दृश्य एक-एक कर आँखों के सामने घूमने लगे—असम्बद्ध और तारतम्यहीन—आज के जीवन की तरह विशृङ्खल और उद्भ्रान्त। भूख से त्रस्त होकर एक स्त्री अपने बच्चे को एक उजड़े स्थान पर छोड़ गई—उजड़े स्थान पर शायद इसलिए कि कहीं कोई यह न देख न ले, मा अपने हृदय के टुकड़े को अपने से अलग कर रही है। जो भी हो, कराँची के कोमल हृदय सेठ इस पर अगर प्रसन्नता का नहीं तो सन्तोष का अनुभव कर सकते हैं कि उनके मूक पशु-पक्षियों के लिए

'एक आहार' उपलब्ध हो गया ! गिद्ध, कौवे, कुत्ते आदि उसे खाने के लिए आने लगे। कुछ बन्दरों की भी उस पर दृष्टि पड़ी। बंदरों में यदि सोचने की शक्ति होती हो तो उन्होंने अवश्य सोचा होगा—यह बालक तो अपनी ही जाति का मालूम होता है। केवल एक दुम की तो कसर है। शेष जो कुछ है, वह हमारे जैसा ही है !

हाँ, तो बंदरों ने बालक को देखा और उसके चारों ओर घेरा बना कर बैठ गए। संयोगवश कुछ लोग उधर से गुज़रे। उन्होंने जब यह देखा तो बंदरों को हटाकर बालक को उठा लाए। बालक मोटा-ताज़ा न होने पर भी सुन्दर था। उसकी आयु चार मास की होगी। उसे तुरन्त एक वकील ने पालने के लिए ले लिया। परन्तु तीन दिन बीतते न बीतते दोपहर के समय उसकी माँ रोती हुई आई और अपना बच्चा माँगने लगी। जब बच्चा उसके सामने लाया गया तो वह फूट-फूट कर रोने लगी। बच्चे को हृदय से लगाए कुछ ही दूर गई होगी कि फिर वापस लौट आई और कहा—"मैं तो भूखों मर रही हूँ। बच्चे का मरना मुझसे न देखा जाएगा। यह लो, इसे अपने पास ही रख लो। कौन जाने...... !"

कहते-कहते उसका गला रुँध गया और उसकी आँखों के आगे अँधेरा-सा छा गया। ठीक वैसा ही अँधेरा इस समय मैं भी अपनी आँखों के आगे देख रहा हूँ। धरती घूमती है, किताबों में यह बहुत पहले पढ़ा था। किन्तु इसका प्रत्यक्ष अनुभव इस समय हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानों मैं भी इन्हीं भूखों की टोली में से एक हूँ यदि कोई कसर है भी तो वह दो दिन बाद पूरी हो जायगी और...... !

सब कुछ मिट कर जैसे एकाकार हो गया है। चित्र उभर कर आँखों के सामने आते हैं और सर्वग्रासी शून्य की सृष्टि करके विलीन हो जाते हैं। एक गाँव के लोगों से जब और कुछ नहीं बना तो उन्होंने अठारह युवतियों को कुछ पुरुषों के साथ 'पैसेवालों की बस्ती' की ओर रवाना किया। पुलीस को इसका पता चला और सब-की-सब गिरफ्तार कर ली गईं। लड़कियों ने कहा—"हम क्या करतीं? जब भूख ने बहुत परेशान किया तो हम ऐसे लोगों के हाथ बिकने को तैयार हो गईं जो भर-पेट खाने को दे सकें।"

इधर पुलीस लड़कियों का बयान लिख रही थी और उधर औरतों का एक दूसरा दल सहायता की आशा से बड़े साहब के बँगले पर जमा हो रहा था। बड़े साहब उस दिन कहीं गए हुए थे। उनके आने में जब देर हुई तो औरतों का यह दल बाज़ार की ओर मुड़ गया। भूख ने उन्हें बुरी तरह त्रस्त कर दिया था। जो दूकानें सामने थीं, उन्हीं पर टूट पड़ीं और उन्हें लूट लिया। इसके बाद वे चावल की दूकानों की ओर बढ़ीं; किन्तु पुलीस ने उन्हें तितर-बितर कर दिया। डंडों की मार उन पर पड़ी और... !

फिर वही शून्य—डंडों की मार ने जैसे कुछ भी नहीं छोड़ा। लूटमार के दृश्य ने हृदय में कुछ सन्तोष का सञ्चार किया था। उससे पता चलता था कि भूख ने उन्हें एकदम निर्जीव नहीं कर दिया है। किन्तु वहाँ यह लूट-मार तो जैसे एक अपवाद है। भूख ने इतना पंगु बना दिया है कि डाक्टरों की मदद भी कारगर नहीं होती!

लूट-मार के नहीं, वरन् दूसरे ही दृश्य आँखों के सामने

आते हैं। लोग चलते-चलते सड़कों पर भूख से गिर पड़ते हैं। प्रतिदिन लाशें उठाई जाती हैं। भोजन की खोज में इधर-उधर भटकने के बाद एक आदमी कलक्टर की अदालत के कमरे की सीढ़ियों पर गिरकर मर गया। जिस वक़्त उसकी लाश हटाई जा रही थी, एक स्त्री कपड़े में लिपटा एक बंडल-सा लिए आई और चीख़कर बोली—"इसे भी ले जाओ!"

बंडल में उसका मृत बालक था। एक दूसरी स्त्री प्रतिदिन कई मील चलकर एक अन्नक्षेत्र से अपने मृतप्राय पति के लिए जौ की लपसी लेने आती थी। एक ओवरसियर की स्त्री ने यह समाचार पाने पर आत्महत्या कर ली कि उसके पिता के घरवाले भूखों मर रहे हैं। एक परिवार में दो भाई तीन दिन से भूखे थे चौथे दिन किसी तरह आधा सेर आटा मिला, बड़ा भाई उसे पकाने बैठा। छोटा भाई कोई चीज़ लेने बाहर चला गया। जब लौटकर आया तो उसने देखा—बड़ा भाई अधपकी रोटी का तीन चौथाई भाग उदरस्थ कर चुका है। इसे देखकर दोनों भाइयों में झगड़ा हो गया। क्रोधित भूखा भाई इस हरकत को न सह सका और एक पैने गँड़ासे से उस पर वार किया, जिससे बड़े भाई की मृत्यु हो गई?

बड़े भाई की मृत्यु और छोटे भाई के गले में फाँसी का फंदा। जीवन को निश्चिह्न करनेवाले इन चित्रों का जैसे कोई अन्त नहीं है। शैतान की आँत की तरह उनका विस्तार बढ़ता ही जाता है। सीधी-सपाट सड़क पर एक दूधवाला दूध लिए जा रहा था। न जाने किस भूखे की नज़र उसे लगी कि उसने ठोकर खाई और उसका दूध सड़क पर बिखर गया। खुली सड़क पर दूध की नदी बहते देख चिथड़े लपेटे, अस्थि-पंजर

शेष, क़रीब आधी दरजन औरते बग़ल में बच्चों को उल्टा-सीधा लटकाए वहाँ दौड़ आईं और अपने चिथड़ों की सहायता से धूल मिला वह दूध बच्चों के मुँह में निचोड़ने लगीं। न-जाने कितने दिनों के बाद उन्हें यह स्वर्गीय अमृत मिला था!

ऐसे अवसर रोज-रोज नहीं आते। रोज के चित्रों में तो ऐसे माता-पिता ही अधिक सामने आते हैं, जो अपने बालकों के लिए कोई प्रबंध न कर सकने पर, उन्हें भगवान् के भरोसे छोड़ चल देते हैं। ऐसे ही एक पुरुष ने खाने का प्रबंध कर सकने में असमर्थ होने पर अपने तीन साल के एकमात्र पुत्र की हत्या कर डाली। उसके परिवार को तीन दिन तक भोजन नहीं मिला था। अदालत में उस पर मुक़दमा चला और लड़के की हत्या करने के अपराध में उसे आजन्म कारावास की सज़ा हो गई। ६ साल की लड़की ने उसके विरुद्ध अदालत में गवाही दी थी। दुःखद परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए अदालत ने उस पर विशेष दया करने की सिफ़ारिश की है।

दुःखद परिस्थितियाँ और अदालत की सिफारिश—ये दोनों ही विलीन हो जाते हैं एक दूसरे दृश्य के सामने। चारों ओर से निराश होकर एक व्यक्ति मा काली के मन्दिर में पहुँचा। कौन जाने उसके हृदय में यह विश्वास—डूबते के लिए तिनके के सहारे की तरह—जगा हो। प्रार्थना करने पर मा काली उसके कष्टों को दूर कर देगी। मा काली ने उसे मुक्ति का मार्ग सुझा भी दिया। वह मन्दिर से बाहर निकला और गले में फंदा डालकर एक पेड़ से लटक गया।

गले में फंदा डालते समय यदि उसे पुलीस ने देख लिया

होता तो पकड़ा जाता, अदालत में मुक़दमा चलता, आत्महत्या करने के अपराध में सजा होती और सम्भव है, दुःखद परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, उसके लिए भी विशेष दया की सिफ़ारिश की जाती... !

फिर वही शून्य ! अंधकार में प्रकाश की सृष्टि न कर विशेष दया की यह सिफारिश उसे घनीभूत ही करती है। चित्र आँखों के सामने आते और जाते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि उनका कभी अन्त न होगा।

और सबसे अन्त में उभर कर आते हैं वह महानुभाव, जो एक ओर भूखों के लिए दान करते हैं, दूसरी ओर रास-रंग में लिप्त होते हैं और पूछने पर उत्तर देते हैं—"आप भी विचित्र बातें करते हैं। भूख के दृश्य इतने भीषण हैं कि उनकी वेदना को भुलाने के लिए हमें यह सब करना ही पड़ता है। अगर हम इतना न करें तो पागल हो जायँ !"

संतरंगी-छतरी

सतरंगी छतरी—कालेज में लड़कों ने उसका नाम सतरंगी छतरी रख दिया था। बात यह थी कि उसे छतरियों से बहुत प्रेम था। अत्युक्ति न होगी यदि हम यह कहें कि छतरियाँ उसके व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंग बन गई थीं। रोज नये ढंग की छतरी लगाकर वह कालेज आती थी। जिस रंग की साड़ी पहनती थी, उसी रंग की छतरी भी लगाती थी। सप्ताह में यदि सात बार वह साड़ी बदलती थी तो साड़ियों के साथ-साथ उसकी छतरियों का रंग भी बदलता जाता था। इन्हीं सब बातों को देखकर कालेज के लड़कों ने उसका नाम सतरंगी छतरी रख दिया था। बात इतनी ही न थी। कुछ लड़कों ने छतरी क्लब की योजना भी बना ली थी। उनका इरादा था कि

सर्व-सम्मति से छतरी क्लब की अध्यक्षा उसी को बनाया जाय।

अपनी मा की वह अकेली लड़की थी। पिता उसके बचपन में ही मर गये थे। मा अमीर घर की थीं और सबको अपनी उँगलियों पर नचाती थीं—कम से कम इतना तो था ही कि अपनी बात का विरोध होते वह नहीं देखना चाहती थीं। घर में मा का ही राज्य था। एक घर में ही क्यों, घर से बाहर के कामों में भी मा का निर्णय ही अन्तिम समझा जाता था। घर के नौकर-चाकर—और बाहर के आदमी भी—सब यह जान गए थे कि मा जी जो कहेंगी, वही होगा। फलतः सबकी दृष्टि मा जी की ओर ही जाती थी।

ऐसे वातावरण में मिनी का बचपन बीता था। अपनी मा की तरह वह भी स्वतंत्र व्यक्तित्व रखती थी। मिनी के अलावा घर में जब कोई लड़का न हुआ तो बाहर से जो लोग मिलने आते थे, वे यही कहते थे—"लड़की का क्या है? वह तो पराये घर की होती है। घर में उजाला तो लड़के से ही होता है। परमात्मा करे, एक हँसता-खेलता लड़का और इस घर में आ जाये!"

मिनी की मा जब इस तरह की बातें सुनतीं तो तिलमिला जाती थीं। जब न रहा जाता तो झल्लाकर कहतीं—"लड़का—लड़का—लड़का! मुझे नहीं चाहिये कुछ! मेरी मिनी किस लड़के से कम है?"

इसके बाद, कुछ देर रुककर, मा मिनी को अपने पास बुलाकर कहतीं—"देख तो मिनी, ये क्या कह रहे हैं! इनका खयाल है कि लड़कियों का होना न होना बराबर है। लेकिन

मै कहती हूँ कि अब वे दिन नहीं रहे, जब लड़कियों को जन्म लेते ही गला घोट कर मार डाला जाता था। सच तो यह है कि लड़कियाँ किसी तरह भी लड़कों से कम नहीं होतीं। मेरी मिनी ऐसी ही लड़की है। क्यों मिनी, मैं ठीक कह रही हूँ न!"

"हाँ मा, ठीक कहती हो तुम," मिनी अपनी मा का समर्थन करते हुए कहती, "मै तो रोज ही कालेज में देखा करती हूँ। सिवाय लड़कियों की ओर घूरने के इन लड़कों को और कुछ नहीं आता!"

मिनी अपनी मा के साँचे में ही ढली थी। अपनी मा की तरह उसने भी स्वतंत्र व्यक्तित्व पाया था। लड़कों से उसकी कोई दुश्मनी नहीं थी, लेकिन उनका इस तरह घूर-घूरकर देखना उसे बुरा लगता था। कालेज के लड़के जब सामने आते थे तो उसे ऐसा मालूम होता था मानो सबके सब मिलकर एक स्वर से कह रहे हों—"तुम क्या समझती हो, हम लड़के हैं—लड़के!" मिनी को यही जहर लगता था। एक तो लड़कियों की संख्या वैसे ही कालेज में कम थी, तिस पर यह हाल। मानो उनकी लोलुप दृष्टि का पात्र बनने के लिए ही मिनी ने कालेज में पढ़ना शुरू किया हो।

मिनी की रंग-बिरंगी छतरी और उसकी साड़ियों ने लड़कों को और भी उकसा दिया था। वे समझते थे कि उनके हृदय को गुदगुदाने के लिए ही मिनी रंगीन तितली बनकर कालेज आती है। पर बात असल में दूसरी थी। केवल फैशन और दिखावे के लिए ही वह छतरी अपने साथ रखती हो, ऐसा नहीं, इसका एक कारण और भी था। जिस प्रकार कतिपय व्यक्ति कुत्तों आदि के डर से सदा अपने हाथ में छड़ी रखते

हैं—भले ही उस छड़ी के प्रयोग करने का अवसर उन्हें जन्म भर न मिले और यदि मिले भी तो ठीक मौके पर उनका हाथ काम करने से इन्कार कर दे—उसी प्रकार मिनी भी अपने हाथ में छाता अवश्य रखती थी। छाता खरीदते समय इस बात का वह विशेष रूप से ध्यान रखती थी कि उसकी मूठ और लकड़ी मजबूत हो। कालेज के लड़कों का रवैया देखकर उसकी आशंका दूर न हो पाती थी और रोज ही वह सोचती थी कि इस तरह अधिक दिनों तक नहीं चलेगा। आखिर एक न एक दिन उसे कालेज के लड़कों को उनकी बेहूदी का पाठ पढ़ाना ही पड़ेगा और......

एक दिन की बात है। कालेज की पढ़ाई समाप्त कर मिनी घर लौट रही थी। दिमाग उसका ठिकाने पर नहीं था। बात यह थी कि उसकी साइकिल की हवा लड़कों में से किसी एक ने निकाल दी थी। रह-रहकर मिनी सोचती थी कि हो न हो यह रमेश की ही करतूत होगी। पता नहीं, अपने को क्या समझता है। उसी के इशारों पर कालेज के दूसरे लड़के भी चलते हैं। समझता होगा लड़की है, मन ही मन कुढ़कर रह जाएगी, लड़कों के मुँह लगना ठीक न समझेगी। लेकिन सहन करने की भी एक सीमा होती है।

इन्हीं सब बातों को सोचती मिनी चली जा रही थी कि पीछे से किसी के गुनगुनाने की आवाज आई—"स-त-रं-गी—छ-त-री—ल-ल-ल-ल !"

मिनी ने सिर घुमाकर देखा तो रमेश! मिनी के सारे बदन में आग-सी लग गई। फिर भी उसने कुछ कहा नहीं। यह नहीं कि वह कुछ कह नहीं सकती थी, वरन् यह कि

उसने जान बूझकर अपने को रोक लिया। रास्ता छोड़ वह एक ओर को हो गई। उसे आशा थी कि रमेश में अभी कुछ शराफत बाकी होगी। चुपचाप बगल से निकल जायेगा। लेकिन रमेश तो जैसे अपनी धुन में चला आ रहा था। मिनी के निकट आने पर भी उसने अपना तराना जारी रखा—'स-त-रं-गी—छ-त-री !"

फिर एकाएक जैसे चौंककर बोला—"ओह, पंकचर हो गया है। यह लीजिये, मेरी साइकिल हाजिर है !"

"देखिये, मिस्टर रमेश !" मिनी ने कहा, "बहुत दिनों से मैं आपकी हरकतों को तरह देती आरही हूँ। मुझे आपकी यह बेहूदगी बिलकुल पसन्द नहीं है।"

"बेहूदगी !" रमेश ने कहा, "आपको तकलीफ हो रही है, इसलिए अपनी साइकिल मैं आपको भेंट कर रहा हूँ, लेकिन आप हैं कि......"

"मैं खूब अच्छी तरह समझती हूँ आपको,' मिनी ने कहा—"आगे से अगर आपने शराफत से काम न लिया तो......"

"देखिये मिस मिनी," रमेश ने कहा, "लड़की होने से ही आपको मेरा अपमान करने का अधिकार नहीं मिल जाता। आपकी बातों से साफ मालूम होता है कि शराफत की मुझे इतनी नहीं, जितनी कि आपको जरूरत है ! मैं पछता हूँ, आपने मुझे......."

मिनी ने देखा कि बात को आगे बढ़ाना ठीक न होगा। फिर साइकिल बनानेवाले की दूकान भी आ गई थी। दुकान की ओर मुड़ते हुए मिनी ने कहा—"आज तो नहीं, लेकिन तुम्हारी बात का उत्तर फिर किसी दिन दूँगी !'

"देखा जायेगा!" रमेश ने कहा और एक अजीब ढंग से मुँह बनाता हुआ साइकिल पर चढ़ हवा हो गया। कुछ क्षण तक मिनी रमेश की ओर देखती रही, फिर साइकिल बनवाने लगी।

× × ×

उस दिन के बाद से रमेश और मिनी दोनों एक दूसरे को मात देने के अवसरों की ताक में रहने लगे। दोनों की खींच-तान कालेज भर में एक प्रकट-रहस्य बन गई थी और सभी लोग इस बात की उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे कि देखें ऊँट किस करवट बैठता है। इसी बीच एक ऐसी घटना घटी, जिसने रमेश और मिनी की खींचतान का रंग ही पलट दिया।

राष्ट्रीय जागृति की लहर देश के इस छोर से उस छोर तक लहरा उठी। कालेज का वातावरण भी उससे अछूता न रहा। लड़कों ने तय किया कि कालेज यूनियन की सभा कर उसमें तय किया जाय कि लड़कों को क्या करना चाहिए? मिस्टर रमेश इस सभा के प्रेसीडेन्ट बने। मिनी श्रोताओं में खड़ी थी। रमेश जब बोलने खड़े हुए तो उसकी दृष्टि मिनी की ओर गई। मिनी को देखते ही रमेश की आँखों में शरारत छा गई और उसने कहना शुरू किया—"हमारे देश में जहाँ लोगों के पाँवों में न जूता होता है, न सिर पर टोपी, चिलचिलाती धूप में जहाँ लाखों आदमी नंगे पाँव और उघारे सिर गिरते-पड़ते और घिसटते अपने जीवन-पथ को पार करते हैं, वहाँ रंग-बिरंगे छातों का फैशन करना एक ऐसा पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं......"

मिनी ने जब सुना तो तिलमिला कर रह गई—बदला लेने

का भी कम्बख्त को यही अवसर मिला था। कुछ देर उसने सोचा और फिर रमेश के भाषण को बिना सुने ही न जाने किधर खिसक गई।

लड़कों ने जब यह देखा तो कानाफूसी करने लगे। रमेश भी बोलते-बोलते एक क्षण के लिए रुक गया। लेकिन उसने फिर तुरंत ही अपने को सँभाल लिया और लड़कियों के फ़ैशन के बाद उसने लड़कों के फैशन को लेना शुरू किया—"लड़कियों की बात जाने दीजिये। वे तो स्वभाव से ही शृङ्गार-प्रिय होती हैं। लेकिन हमारे यहाँ ऐसे लड़कों की भी कमी नहीं है, जो हमेशा अपनी जेब में कंघी और आइना लिए घूमा करते हैं...!"

इसी बीच एक लड़का भीड़ को चीरता रमेश के पास पहुँचा और एक काग़ज़ का टुकड़ा देकर वापस लौट गया। रमेश ने उस पुर्जे को देखा और फिर बोला—"साथियो, अपने भाषण को बीच में ही रोककर मैं आप लोगों को एक शुभ-समाचार सुनाना चाहता हूँ। वह यह कि मिस मिनी ने आज से फैशन को तिलांजलि दे दी है और देश के लिए अपना जीवन बिताने की प्रतिज्ञा की है !"

लड़कों ने जब यह सुना तो स्तब्ध रह गये। एकाएक उन्हें विश्वास नही हुआ कि ऐसा हो सकता है। मिनी के आकस्मिक त्याग ने उन्हें विस्मित कर दिया था । एक-दो लड़कों ने इस पर व्यंग भी किया। रमेश को अच्छा नहीं लगा। वह तुरत ही बोला—"यह ऐसी चीज नहीं है, जिसका मजाक उड़ाया जाये। इस तरह हम मिनी का नहीं, स्वयं अपना मजाक उड़ाते हैं।"

अगले ही क्षण न जाने कहाँ से मिनी का छाता रमेश के

हाथ में पहुँच गया। उसे दिखाते हुए वह बोला—"इस छाते को अब आप मिनी के हाथों में कभी न देखेंगे। भविष्य में एकदम सादा जीवन बिताने का मिनी ने निश्चय कर लिया है !"

इसके बाद यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि मिनी के छाते का क्या किया जाय ? कुछ लड़कों का कहना था कि विदेशी कपड़ों की होली जलाई जाय और उसके साथ-साथ छाते को भी होम दिया जाय। कुछ इसके विपक्ष में थे। उनका कहना था, इसे नीलाम कर दिया जाय। दोनों पक्षों की बातें सुनकर आखिर रमेश ने कहा—"सबसे अच्छा तो यह होगा कि इस छाते को नीलाम कर दिया जाय और इस तरह जो रुपया मिले, वह......"

देखते-देखते मिनी के छाते पर बोलियाँ बोली जाने लगीं और ५१) में वह नीलाम हो गया। यह रुपया नगर के प्रमुख नेता के पास भेज दिया गया। रमेश और मिनी इसके बाद जी जान से सार्वजनिक क्षेत्र में कूद पड़े, दोनों एक साथ ही पकड़े गये, दोनों को सजा भी बराबर हुई और दोनों एक ही जेल में रखे भी गये।

× × ×

जेल से छूटने के बाद रमेश और मिनी दोनों ने विवाह कर लिया और एक साथ रहने लगे। मिनी की मा की मृत्यु हो चुकी थी। रमेश और मिनी के लिए वह बहुत-सा धन छोड़ गई थीं। रमेश अब भी, जब कभी मौज में आता था, सतरंगी छतरी ही कहता था। मिनी सुनती थी, सुनकर नाराज भी होती थी और रमेश को पहले की तरह ही चेतावनी भी देती थी अगर अपनी इस हरकत से बाज न आये तो.. !

"तो यह कि शाम का खाना बन्द कर दिया जायगा!" रमेश हँसते हुए कहता—"लेकिन मिनी, यह न भूल जाना कि देश में होटलों की कमी नहीं है!"

सतरंगी छतरी मिनी के छाता-प्रेम के सम्बन्ध में एक सूचना देना और बाकी रह गया है। वह यह कि मा के रुपयों से रमेश ने विशुद्ध स्वदेशी छाता तैयार करनेवाले एक बहुत बड़े कार-खाने को जन्म दिया है और उसका कारोबार दिन दूनी और रात चौगुनी गति से तरक्की कर रहा है!

अनुराग-विराग

"सुधा, आखिर यह चैप्टर तो खत्म करना ही है।"

"नहीं जी, घूमने चलो।"

"और यह उपन्यास ?" मैंने कहा—"देखो न, इस समय उपन्यास का हीरो..."

"तो जाने दो; तुम उपन्यास में ही उलझे रहो। मैं तो जा रही हूँ!" कह सुधा चली गई।

फिर दो दिन तक वह नहीं आई। और मैंने देखा कि बिना सुधा के अब उपन्यास पढ़ने में मन नहीं लग रहा है। उसके जाते ही उपन्यास भी जैसे नीरस हो उठा और उसे एक ओर पटक मैं अपने कमरे में टहलने लगा।

सुधा क्या है और कौन है ?—यह कई बार सोचा है और

समझने की कोशिश भी की है; लेकिन पकड़ कुछ भी नहीं पाया। सम्भवतः वह उन युवतियों में से है, जो किसी एक की बनकर नहीं रह सकतीं, किन्तु...!

विचित्र बात थी। कुछ समझ नहीं पड़ता था। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि इस संसार में यदि किसी ने सच्चा प्रेम करना जाना है तो सुधा ने और फिर दूसरे ही क्षण ऐसा मालूम पड़ता कि प्रेम से उसका कोई वास्ता नहीं, वह तो......

दो माह से उसके साथ हूँ—कभी होटल, कभी सिनेमा, कभी घूमने। उसे पास से देखा है, सुना भी है और महसूस किया है कि वह सुन्दर है, और समझदार है—और उसने मेरे जीवन के एक अभाव की पूर्ति भी की है।

तीसरे दिन भी जब वह नहीं आई तो मन भारी हो चला। घर पर बैठा नहीं गया। बाहर निकला और 'माल रोड' की ओर चल दिया। देखा कि सुधा कोट-पेंट तथा फैल्ट हैट-धारी एक अधेड़ व्यक्ति के साथ जा रही है।

हृदय पर एक चोट-सी लगी, क़दम उल्टे फिरे और घर लौट आया। हृदय और मस्तिष्क उद्विग्न हो उठे। बीते दिन उभर-उभरकर सामने आने लगे।

मैं जिस मकान में रहता था, उसके सामने एक गली थी। गली के उस पारवाले मकान की खिड़की पर खड़ी एक युवती पर अक्सर आँखें टिक जाती थीं। सुन्दरता के साथ रूप को अनुकूल शृङ्गार से सँवारे वह हृत्पट पर टिकी मुस्कराती लगती थी।

पहले यह मुस्कराहट अस्पष्ट और संदिग्ध-सी थी, धीरे-धीरे अस्पष्ट से स्पष्ट और स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई।

यंत्रवत् बाहर निकल, उसकी खिड़की को आँखों से छू लेता था—और अब वह उलझन नहीं रह गई थी, जो सुझावे कि उसे देखने का कोई अधिकार नहीं।

उस दिन मैं उसकी मुस्कराहट पा गया। उसने मुझे देखा, देखकर मुस्कराई और खिड़की से सरक गई। फिर, दूसरे, तीसरे और चौथे दिन, उसे देखने का मुझे साहस नहीं हुआ—बजाय खिड़की के अपनी अल्मारी के समीप पहुँचा और बिखरे हुए लिखे बे-लिखे काग़ज़ों से उलझना शुरू कर दिया।

पाँचवें दिन बाहर खड़ा था कि सुना, "'आनन्द बाज़ार पत्रिका' है?"

मैंने सामने देखा तो वह मुस्कराई और फिर अखबार-वाले की ओर मुख़ातिब हो गई।

मैं चुपचाप खड़ा-भर था। अपनी इस स्थिति के शून्य की चेतना का एकाएक आभास हुआ और अखबारवाले से कह उठा, "एक कापी इधर भी देना।"

"अब तो रही नहीं, बाबूजी!" मेरे प्रयास को निष्फल करती हुई अख़बारवाले की आवाज़ आई। आँखें ऊपर उठी ही थीं कि फिर मुस्कराहट दिखाई पड़ी। झुँझलाकर फिर अख़बारवाले से कहा, "कल से रोज़ दे जाया करो!" और पलटकर अपने कमरे में आ, 'भारतीय दण्ड-विधान' की दफ़ाओं को याद करने लगा।

उस दिन शनिवार था। सन्ध्या को 'पैलेस' फ़िल्म देखने गया। बड़ी भीड़ थी। बाहर लगे 'पोस्टर्स' देख रहा था कि सुना—"मिस्टर...!"

फिरकर देखा तो पड़ोसिन अपनी दो सहेलियों के साथ

एक ओर खड़ी थीं। साहस बटोरकर उनके समीप पहुँचा। मनीवेग से १०) का नोट देती हुई वह बोलीं, "मेहरबानी करके तीन टिकट 'स्पेशल' के ला दीजिये।"

मैंने टिकट लेकर दे दिये और घर लौट आया। सिनेमा का प्रोग्राम 'डिसमिस' हो गया।

और यही वह सुधा है, जो जीवन से लगती-लगती आगे बढ़ने लगी।

हाँ, वही सुधा, जिससे मै संलग्नता महसूस करने लगा था और जिसने संलग्नता महसूस करने के अवसर दिये—कभी कोई प्रतिरोध-विरोध नहीं, बंदिश नहीं। जिसे पाकर मैंने पूर्णता महसूस की और उस पूर्णता पर जिसने समर्थन की मोहर लगा दी—यहाँ तक कि कोई ऐसी उलझन नहीं रह गई, जो सुझावे कि उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं।

तो क्या वह एक खेल था, धोखा था--या भ्रम अथवा चूहे-बिल्ली का अभिनय था? और सुधा उसकी सूत्रधारिणी थी?

पर सुधा इतना नीचे नहीं गिर सकती, उसके लिये यह सम्भव नहीं। वह सब कुछ हो सकती है, पर इतनी नासमझ और इतनी निर्दय नहीं—धोखा देने की तो उसके लिये कल्पना भी नहीं की जा सकती; लेकिन......?

प्रश्नसूचक चिह्नों का एक समूह लिये यह 'लेकिन' पीछा नहीं छोड़ रही थी। हृदय और मस्तिष्क को उसने इस तरह उलझा दिया था कि कोई भी सिरा नहीं मिल पा रहा था।

इतने में सुधा आई और द्वार पर ठिठककर खड़ी हो गई। घूमकर जो क़दम पल्टे तो उस पर आँखे गड़ गईं। देखा कि

उसकी आँखे लाल हो रही हैं, वे तर भी हैं और कपोलों पर अश्रुओं की मलिनता छाई है...।

गरम ताव पर उसकी भीगी आँखों का यह पानी छन्न-से बोला और भभक उठा—"क्यों, अब फिर कोई नया रंग रचने का विचार है . ...?"

निश्चय ही मेरा यह कहने का विचार नहीं था, मैं कह भी नहीं सकता था, लेकिन फिर भी कह गया और न-जाने क्या-क्या कहता गया।

"रंग नया है या पुराना, नहीं जानती। पर मै कोई उलझन अपने और तुम्हारे बीच में रहने नहीं देना चाहती। सब कुछ कहने के लिये ही आज आई हूँ। मालूम होता है, वह कम्बख्त यहाँ आकर आग भड़का भी गया है..."

सुधा की बात सुनकर मै स्तब्ध रह गया। मैंने पूछा, "लेकिन यह कौन भाग्यशाली हैं, जिनका आज इतना आदर-सत्कार हो रहा है ?"

"वह भाग्यशाली 'महाशय' आपकी जाति के ही व्यक्ति हैं। वह मेरे मित्र, कह सकते हो प्रेमी, रहे हैं और मेरे पति को पीछे धकेल..."

'सुधा!' मेरे मुँह से इतना ही निकलकर रह गया। अनायास ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो अन्य किसी व्यक्ति को नहीं, वरन् मुझे ही लक्ष्य कर वह यह सब कह रही है।

सुधा का सारा बदन बेंत की तरह काँप रहा था। मेरी आवाज़ सुन उसने एक क्षण के लिये सिर उठाकर मेरी ओर देखा और फिर एकाएक मेरे कन्धे पर सिर रख, फूट-फूटकर रोने लगी।

यन्त्रवत् मेरा हाथ उसके सिर पर पहुँचा और सहलाने लगा। मुँह से निकला, "दुर, पगली न बन सुधा !"

और फिर उसकी ठोढ़ी को ऊपर उठाकर कहा, "तो अब एक बार हँस दो।"

उसके होठों पर मुस्कराहट अभी पूरी तरह खेलने भी न पाई थी कि उसने सिर नीचा कर लिया और हहराकर गोदी में ढह गई।

× × ×

सन्ध्या का समय था। पार्क में दोनों बैठे थे। इधर-उधर की बातें हो रही थीं। एकाएक सुधा निकट सरक आई और किंचित् स्वर में बोली, "एक बात पूछूँ, सच-सच बताओगे ?"

"हाँ, कहो।"

कुछ क्षण रुककर सुधा ने कहा—"तुमने अब तक किसी से प्रेम किया है ?"

"मुझे तो याद नहीं पड़ता कि कभी ऐसा अवसर आया ह," माथे में बल तथा आँखों को सिकोड़ते हुए मैंने कहा।

"कभी भी नहीं ?" कौतुक-मिश्रित आश्चर्य से सुधा ने पूछा।

"लेकिन एक बार जबकि..."

"देखो", सुधा ने किंचित् व्यथित व्यग्रता से कहा, "तुम्हें मेरी क़सम है, सब सच-सच बताना।"

"हाँ, जबकि मैं अपने गाँव में रहता था", मैंने कहना शुरू किया।

"तब तो तुम छोटे ही होगे", सुधा ने फिर बीच में टोका।

"हाँ; और वह भी लड़की ही थी—चार साल की होगी।"

"ओह", सुधा ने सन्तोष की साँस लेते हुए कहा, "तो फिर ?"

"जाड़ों के दिन थे। मै अपनी किताब की तसवीरों में उलझा था। एकाएक मेरे सामने परछाईं आई। घूमकर देखा तो गोल-मटोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखे और घुँघराले बाल। मुस्कराहट के साथ मैंने उसका स्वागत किया, वह भी खिली और झट से मेरी गोदी में आ बैठी।

"तुम्हारा नाम क्या है ?" मैंने पूछा।

"आशा", उचककर कहा।

"बड़ा अच्छा नाम है !"

"हाँ, और...वह कुछ कहने जा रही थी कि उसका पीछा करता हुआ बूढ़ा नौकर आ पहुँचा। मेरी गोद में उसे इस तरह से बैठा देख उसे आश्चर्य हुआ। कहने लगा—"अजब बात है, बाबू ! यह तो बड़ी जंगली लड़की है, किसी के पास नहीं जाती।"

और जब वह उसे ले जाने लगा तो चलते-चलते उसने कहा—"कल फिर आऊँगी, अच्छा !"

"अच्छा", मैंने कहा और उसकी ओर देखता रहा।

"दूसरे दिन स्कूल जाने के समय वह आई और मेरे साथ स्कूल जाने के लिये ज़िद करने लगी। उसे मना किया तो रोने लगी-और रोते हुए वह बूढ़ा नौकर उसे घसीट ले गया।"

"फिर वह दिखाई नहीं पड़ी। बाद में मालूम हुआ कि उसी दिन 'डिप्थीरिया-रोग' ने उसे पकड़ लिया। बीमारी की हालत में वह मुझे याद करती रही—यहाँ तक कि खुद उसकी मा मुझे लिवाने के लिए आई; पर मेरी मा ने डर के मारे

कुछ नहीं बताया। दूसरे दिन वह मर गई। मरते वक्त भी उसके होठों पर मेरा ही नाम था.. ”

“और अपने बचपन की उस ‘आशा’ को मै आज तक नहीं भूला हूँ।”

“ओह !” सुधा के मुख से निकला और चुप रह गई।

कुछ क्षण बाद वह निकट सरक आई और अपने हाथ में मेरा हाथ लेकर बोली—“तुम बड़े अच्छे हो !” और फिर मेरी शून्य आकृति की ओर देखकर चुप हो गई।

इसके बाद—

वह भी चुप।

मैं भी चुप।

फिर सुधा बोली—“आशा के बाद तो और किसी से...?”

जी में तो आया कि कहूँ ‘तुमसे !’ किन्तु कह नहीं सका। अनायास ही माल रोडवाला दृश्य मेरी आँखों के सामने घूम गया। सुधा के प्रश्न के पूरा होने से पहले ही किंचित् तीव्र स्वर में मुख से निकला—“सुधा !”

सुधा ने सकपकाकर कहा—“हाँ।”

“प्रेम को क्या तुमने बच्चों का खेल समझा है ?” मैंने पूछा।

“बच्चों का नहीं, बड़ों का...”

“मैं फिर कहता हूँ, प्रेम को लेकर मजाक़ करना ठीक नहीं।”

“मजाक !” सुधा के मुख से निकला।

“हाँ, यह मजाक नहीं तो और क्या है ? प्रेम क्या बार-बार और हर किसी से करने की चीज है—वह तो एक बार होता है, जिससे भी होता है।”

फिर एक मौन अवकाश।

कुछ देर के रिक्त के बाद सुधा ने संयत स्वर में कहा—"निश्चय ही यह मजाक की चीज नहीं है। और किसी के लिये तो यह एक मजाक या खेल हो भी सकता है, या होता ही है, लेकिन नारी के लिए तो वह ज़रा भी नहीं है—उसका अस्तित्व ही मजाक-हीन प्रेम की मजबूरी है..."

"सुधा...!" मैं कुछ कहने जा रहा था कि सुधा ने रोक दिया। बोली, "नहीं-नहीं, कुछ न कहो। तुम नहीं जानते, पर मैं जानती हूँ कि नारी के जीवन की सबसे बड़ी बाधा यही है कि वह नारी है। उसका रूप, उसका श्रेय और उसकी व्याख्या तथा देवत्व—सभी उसके जीवन पर निर्दय व्यंग्य करते मालूम होते हैं।"

"सुधा, बात ऐसी नहीं है। यह तुम्हारी..."

"भूल है!" बीच में से ही सुधा ने कहा, "तुम्हारे निर्णय को मै पूरा किये देती हूँ। पर यह तो एक छोटी-सी भूल है। सबसे बड़ी भूल तो यह हुई कि नारी-जन्म लेकर इस संसार में अवतरित हुई। दूसरी भूल यह हुई कि प्रथम भूल के दण्ड को मैंने स्वीकार नहीं किया—चहारदीवारी में मृत्युपर्यन्त बन्द रहने से इनकार कर दिया, और तीसरी भूल यह हुई कि......"

"सुधा, तुम्हें हो क्या गया है? चलो, उठो। लगता है, तुम्हारा मन उचाट हो रहा है। चलो, सिनेमा चलें। वहाँ जी बहल जायेगा।"

"जी ब-ह-ल जा-ये-गा!" टूटे हुए-से अक्षर सुधा के मुख से निकले और खुद भी टूटी हुई-सी ढह गई।

सुधा की बातें हृदय को कचोट रही थीं और मस्तिष्क उनमें

उलझ गया था। न उन्हें छोड़ते बनता था और न सँभालते।

उस दिन की बात है। सुधा आई और एक लिफाफा आगे करते हुए बोली—"देखो तो यह क्या है ?"

वह सुधा का चित्र था। मैंने उसे देखा और देखता रहा—इतना सौंदर्य !

"क्यों, कैसा है ?"

"धक्-से रह गया हूँ—बहुत सुन्दर है !"

"हाँ, विवाह से पहले का चित्र है। ओह, उस समय मैं कितनी सुन्दर थी !" उसने कहा और उसका कण्ठ-स्वर एक-दीर्घ निश्वास में परिणत होकर रह गया।

फिर कुछ क्षण ठहर कर उसने कहा, "काश कि उस समय तुम मिल पाते !"

"तो तुम परवाह तक नहीं करतीं !" मैंने कहा और फिर तुरन्त ही अचकचाया कि क्या कह गया !

"तुम बड़े वैसे हो" उसने कहा और आँखे बचाकर उधर को देखने लगी।

अपनी अचकचाहट को मुस्कराहट से ढकने का प्रयास कर ही रहा था कि सुधा के मुख पर फैलती मलिन छाया को देख ठिठक गया।

शून्य की ओर देखते हुए सुधा ने कहा, "अगर उस समय तुम मिल पाते, तो तुम्हें कभी कहीं नहीं जाने देती।"

मैं चुप रहा।

फिर उसका मर्मस्पर्शी स्वर सुनाई पड़ा, "और मुझे इस तरह से भटकना भी नहीं पड़ता।"

स्थिति को साधना बड़ा मुश्किल लग रहा था। अत्यधिक

जरूरत महसूस कर रहा था कि कुछ कहा जाये, पर कह कुछ भी नहीं पा रहा था।

"ख़ैर, जो हो गया सो हो गया; ठोकर खाकर ही आदमी को समझ आती है..." आख़िर, बहुत प्रयत्न करने पर, सांत्वना देने की 'पेटेन्ट' वाक्यावली मेरे मुँह से निकलनी शुरू हुई और उसके कानों को छुए बिना ही वातावरण में विलीन हो गई।

सुधा और पास सरक आई—सरकती ही आई और मुझे अपने में समाने का मानो एक-मात्र अन्तिम प्रयत्न करते हुए बोली—"नहीं-नहीं, अब मैं तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगी. ...."

उसकी आँखें मेरी आँखों में गड़ गईं—गड़ती ही गईं और फिर निश्चित तथा दृढ़ स्वर मे बोली—"नहीं, अब यह नहीं होगा। तुम इस तरह से चुप क्यों खड़े हो? कहते क्यों नहीं कि अब ऐसा नहीं होगा, हम दोनों अब एक-दूसरे से कभी अलग नहीं होंगे?"

चुप रहने के अतिरिक्त अब भी मुझसे और कुछ नहीं बन पा रहा था।

"आख़िर सोच क्या रहे हो?" व्यथित व्यग्रता से सुधा ने कहा, "यह प्रेम है या घृणा! ओह फिर वही पुनरावृत्ति...!"

"नहीं-नहीं, सुधा, ऐसा नहीं है!" सँभलते-सँभलते मैंने कहा, "और चाहे जो हो, मै तुमसे घृणा नहीं कर सकता, घृणा करने की कोई बात है भी नहीं ."

"ओह!" सन्तोष की साँस लेते हुए सुधा ने कहा, "तुमसे इसी की मुझे आशा है। अपने आधार को मैं अब कहीं नहीं जाने दूँगी..."

"मैं भी यही चाहता हूँ कि हम दोनों सदा साथ-साथ रहें, कभी एक-दूसरे से अलग न हों, लेकिन..."

"लेकिन क्या ?" सुधा बीच में ही व्यग्र हो बोल उठी और आगे को झुक आई।

"तुम सुन्दर हो, समझदार हो," मैंने कहना शुरू किया, "और तुम्हारा प्रेम पाना निश्चय ही एक गौरव की चीज है, वह सुखद भी है, लेकिन उसमें पूर्णता पाने के लिए यह ज़रूरी है कि प्रेम इकतरफा ही न हो......।"

"फिर वही आकर्षक वीभत्सता !" सुधा के मुख से निकला और निकलकर रह गया। कुछ देर की चुप के बाद वह जैसे अपने-आपसे ही बोली, "तो फिर प्रेम क्या है ? उसे कोई कैसे जाने, कैसे पहचाने ?"

फिर एकाएक मेरी ओर मुखातिब हुई, "तो क्या सचमुच तुम्हारे हृदय में मेरे लिए प्रेम नहीं है ?"

"प्रेम—? शायद है, शायद नहीं है। ऐसे क्षण मेरे जीवन में आये हैं, जिनमें केवल तुम ही तुम रही हो और तुम्हें पाने के लिये मैं पागल-सा हो उठा हूँ, लेकिन...सच जानो, सुधा, मैं ख़ुद नहीं जानता कि वह क्या था—प्रेम या...?"

"अजब बात है।" सुधा ने कहा, "जिस चीज़ का एक दिन अस्तित्व रहा है, उससे इनकार करना और जिसका अस्तित्व कहीं भी नहीं है; उसे सामने रखने के लिए सदा तत्पर रहना ही मानो तुम लोगों की नीति आधार है, इसके बिना तुम लोग जैसे खड़े ही नहीं रह सकते...!"

"तुम्हीं सोचो, सुधा !" मैं बीच में ही बोला, "क्षणिक

आवेश में बह जाने में ही तो सार्थकता नहीं है। उसमें स्थिरता और स्थायित्व होना ही चाहिए। इसके बिना प्रेम..."

सुधा की समझ में बात कुछ आई नहीं। वह कह रही थी, "प्रेम क्षणिक आवेश नहीं है, तो और क्या है? उसका क्रीड़ा-क्षेत्र हृदय है, मस्तिष्क नहीं। और हृदय निर्जीव होने पर ही स्थिर हो सकता है, पहले नहीं—कभी भी नहीं...।"

"सुधा, तुम यह......"

मैं कुछ कहने जा ही रहा था कि सुधा ने बीच में ही पकड़ लिया और कहने लगी, "बस, रहने दो। तुम जो कहने जा रहे हो, वह सब सुन चुकी हूँ, बराबर सुनती रही हूँ और, सच जानो सुनते-सुनते तंग आ गई हूँ।"

फिर कुछ देर के अवकाश के बाद उसके मुख से निकला, "काश कि तुम ही मुझे समझ पाते!"

"सच मानो, सुधा!" मैंने कहा, "तुमसे मुझे पूर्ण सहानुभूति......"

पर सुधा को जैसे इस सहानुभूति की ज़रूरत नहीं थी। उसने जैसे कुछ सुना ही नहीं—सुनने के लिये शायद कुछ था भी नहीं।

"घर तथा बाहरवालों के प्रति," सुधा ने संयत स्वर में कहना शुरू किया, "मेरे पिता का व्यवहार काम-काजी आदमी जैसा था। मतलब की बात कहना, मतलब की बात सुनना और अलग रहना उनका स्वभाव था। उनके नपे-बँधे जीवन में केवल मैं ही एक अपवाद थी। मुझे वह अत्यधिक चाहते थे और खूब उनके मुँह लगी थी।

"माता जी को यह चीज़ रुची नहीं उन्हें डर था कि इस

तरह लड़की बिगड़ जायगी। मुझे लेकर वह पिता जी से बहस करतीं, झगड़तीं भी और धीरे-धीरे यह 'रुख़' सदा झगड़े में परिणत हो गया।

माता जी के हृदय की विचित्र अवस्था हो गई थी। मुझे ही वह घर की कलह का मूल कारण समझती थीं। उन्हीं के पेट से उत्पन्न होने पर भी मैं उनके हृदय का काँटा बन गई थी। नतीजा इसका यह हुआ कि लड़-झगड़कर समय से पहले मेरा विवाह कराने में वह समर्थ हो गईं।

"भले घर की भली लड़की की तरह मैंने इस विवाह को स्वीकार कर लिया। एतराज़ की कोई बात थी भी नहीं। मेरे पति अच्छे घर के, सुन्दर और स्वस्थ थे। विवाह से पहले भी वह हमारे घर आते थे और मेरे संसर्ग में रहने के अवसरों को खोजने तथा निर्माण करने के उनके सतत प्रयत्नों और उत्सुकता का आभास मेरे लिये आनंददायी ही होता था।

"किन्तु यह आनन्द अधिक दिनों तक टिक न सका। प्रथम संतान के बाद रंग फीका पड़ता गया। वह मुझसे फिरे और फिरते ही गये। मैंने बहुतेरा चाहा, बहुतेरी कोशिश की, पर वह दूर ही हटते गये। मेरा तो, ख़ैर, कोई क़सूर हो भी सकता था, लेकिन उस निर्दोष बच्चे ने क्या क़सूर किया था, जो उसकी ओर कभी आँखें उठाकर देखा तक नहीं! कितनी बार उसे लेकर मै उनके पास गई, कितनी बार उसने अपने नन्हें-नन्हें हाथ उनकी ओर फैलाये, मगर...... मगर......"

सुधा काफी अव्यवस्थित हो चली थी और यहाँ आकर, अपने को सँभालने के लिये, उसे कुछ क्षण रुकना पड़ा।

फिर उसके हृदय की घनीभूत वेदना व्यंग्य बनकर प्रकट हुई—"और उनकी उपेक्षा आखिर उसे खो ही गई!"

थोड़ा अवकाश ले सुधा ने फिर कहना शुरू किया, "इसके बाद मेरे नीरस जीवन में सरस सहानुभूति बनकर उसने प्रवेश किया, जो कि तुम्हें इतना व्यथित कर गया है। प्रेम को क्षणिक आवेश का रूप देकर जो तुम्हारे सामने रख गया है...जो भी हो, डूबते के लिए तिनके का सहारा बनकर वह आया और सहारा बनकर रहा। लेकिन मुझे बच्चे की माँ कहला, वह भी अलग हट गया।

"कई वर्ष बाद उस दिन वह अचानक आ गया। कहने लगा, 'यहाँ आकर टिकी हो? मैं तो ढूँढ़ता-ढूँढ़ता तंग आ गया!' फिर उसने चारों ओर खोजती हुई दृष्टि से देखा और कहा, 'बच्चा कहाँ है? उसे मार डाला न? ठीक ही किया; अब कोई अड़चन नहीं रही। चलो, चलें।"

"और मैं उसके साथ चल दी। मालरोड से होती हुई अनाथालय पहुँची और दिखा आई कि देख, यही तेरा बच्चा है। तुझसे घृणा करने पर भी तेरी यादगार को मैं जीवित रखना चाहती हूँ। अब आगे मत आना......"

"इस पर वह बड़ा झल्लाया। कहने लगा, 'इतनी हिम्मत! जिसके बूते पर तू इतना उछल रही है, देखता हूँ, वह तुझे कैसे रखता है? अभी जाकर सारा भण्डा-फोड़ किये देता हूँ।"

मालरोड वाले दृश्य का रहस्य अब स्पष्ट हो गया था। फिर भी मैंने कुछ कहा नहीं। अपनी बात समाप्त कर कुछ क्षण सुधा ने एकटक मेरी ओर देखा, फिर मेरे सहारे टिक गई और टिकी रही।

मै अभी भी चुप ही बैठा था। मुझे कुछ न कहते देख सुधा ने जैसे अपने आपसे ही कहना शुरू किया—

"तो क्या सदा ऐसे ही चलता रहेगा? आख़िर क्यों? भूल कहाँ, कैसे और क्योंकर हुई? अगर मै उस विवाह को स्वीकार नहीं करती? लेकिन इसी की क्या गारण्टी है कि किसी दूसरे के साथ ऐसा अञ्जाम नहीं होता? जिसे मैंने अपनाया, आख़िर उसमें ख़राबी क्या थी? सभी कुछ तो उसमें था, और सभी कुछ तो मैने उसमें पाया। लेकिन—लेकिन .."

फिर सुधा ठीक मेरी ओर मुख़ातिब हुई· "यह तो नामुमकिन है कि तुम इतनी-सी बात भी न समझ पाओ। लेकिन फिर भी तुम इधर-उधर की बाते क्यों करते हो?"

"नहीं, सुधा, ऐसा नहीं है। तुम्हारी बातों को मै अच्छी तरह समझता और मानता हूँ। लेकिन तुम जानती ही हो, सुधा, इस दुनिया में केवल हम-तुम ही नहीं हैं।"

"ठीक है," सुधा बीच में ही बोली, "इस दुनिया में केवल हम-तुम ही नहीं हैं। हमारे चारों ओर एक पूरा समाज है। उसका हमें ध्यान रखना ही होगा। उसके लिए आवेश, आवेग और उद्गारों पर जब्र भी करना होगा। यह 'जब्र' ही हमारा सामाजिक 'प्रबन्ध' है। इस 'प्रबन्ध' की उपयोगिता को भी मैं मानती हूँ। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रबन्ध के सामने मूल तत्वों को अलग ही कर दिया जाये, गौण को प्रधान और प्रधान को गौण बना दिया जाये..."

"लेकिन ऐसा कर कौन रहा है, सुधा!" मेरे मुख से निकला और मेरी आँखें उसके मुख पर टिक गईं।

"ओह, यह बताने का काम भी मुझे ही करना पड़ेगा !" सुधा ने कहा और कहकर ठहर गई।

फिर कुछ देर बाद बोली, "अच्छा, तो सुनो" और सुधा ने कहना शुरू किया—

"जो दो जीवों को जन्म-जन्मान्तर के लिए एक सूत्र में नहीं बाँध देता, उसे तुम प्रेम नही मानते। कहते हो, वह प्रेम न होकर क्षणिक आवेश है, वासना का एक खेल है। एक छत के नीचे, चहारदीवारी में, बन्द रहने की जो मजबूरी नहीं लाद देता, उसके लिए तुम्हारे हृदय और मस्तिष्क में कोई स्थान नही—स्थान की कोई गुञ्जाइश तक नहीं..."

"लेकिन कर्त्तव्य को मजबूरी क्यों समझ रही हो, सुधा !" मैंने कहा। कुछ और कहने के लिये मुँह खोल ही रहा था कि सुधा ने गुञ्जाइश न छोड़ी। वह कहने लगी—

"नहीं-नहीं, यह मेरी समझ का फल नहीं है जो कर्त्तव्य मजदूरी बन गया है; वरन् मजबूरी उसे बना दिया गया है। और इसकी सारी जिम्मेदारी तुम्हीं लोगों पर है। तुम्हीं लोगों ने इसे यह..."

"तुम्हें हो क्या गया है, जो बहकी-बहकी बातें कर रही हो ? समझ से काम लो, सुधा ! कोई सुनेगा, तो क्या कहेगा ?" मैंने कहा और कहते-कहते अच-कचाकर रुक गया।

"समझ से काम लूँ !" दबा हुआ स्वर दीर्घ निश्वास में परिणत हो गया। फिर स्पष्ट तथा निश्चित स्वर सामने आया, "तो तुम्हीं बताओ, आखिर मुझे करना क्या होगा ?"

"तुम खुद इतनी समझदार हो," मैंने कहना शुरू किया, "तुम्हें खुद बताना हास्यास्पद ही होगा; लेकिन फिर भी एक-दो बात मैं अवश्य कहना चाहूँगा। ज़रा ठण्डे दिल से

सोचोगी, तो तुम खुद उन्हें महसूस करोगी। इस छोटे-से जीवन में तुम्हें काफी कटु अनुभव हुए हैं, इसी से..."

"यह सब तो ठीक है," सुधा ने बीच में ही कहा, "लेकिन मैं यह पूछती हूँ कि मुझे कटु अनुभव उठाने क्यों पड़े ? उनके कारणों को क्या मैं मा के पेट से लाई थी या उनका उद्गम-स्थान ग्रह-नक्षत्रों की चाल अथवा जन्म-कुण्डली में देखना होगा ?"

फिर जैसे एकाएक सुधा को आत्मचेतना विशेष का आभास हुआ। अपने को सँभालने की सतर्कता उत्पन्न हुई और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सिमट-सिमटाकर बोली, "मैं भी कैसी पगली हूँ, जो तुम्हीं से बहस करने बैठ गई! इतने आवेश में आ गई कि कुछ भी पता नहीं रहा कि आखिर बातें किससे कर रही हूँ ?"

फिर वह और आगे बढ़ी और मेरे हाथों की उँगलियों से खेलती हुई-सी बोली, "मुझे माफ़ कर दोगे न ?"

"माफी को तुमने किया क्या है, सुधा!" मेरे मुख से निकला, "कभी-कभी कितनी नासमझी की बातें कर बैठती हो।"

मेरी उँगलियाँ सुधा के बालों में पहुँच गई थीं, आँखें सामने के रिक्त को टटोल रही थीं और मुख से निकल रहा था—"मुझे ग़लत मत समझना, सुधा! ग़लत समझोगी, तो मुझे हार्दिक दुःख होगा।"

थोड़ा अवकाश ले, मैं फिर आगे बढ़ा, "यह तो तुम जानती हो कि मैं तुमसे घृणा नहीं करता—कर नहीं सकता। न ही तुम्हारी किसी बात को बुरा मानता हूँ। मैं जानता हूँ कि इस छोटे-से जीवन में तुम्हें कितने दुःख उठाने पड़े हैं। तुम्हारी स्थिति में अगर मैं होता, तो शायद इससे भी अधिक कटुता मुझे दबाये होती... ..."

"तुम इतनी अच्छी हो, और इतनी समझदार हो—फिर भो तुम्हें इतने दुःख उठाने पड़े! दुर्भाग्य जैसे जमकर बैठ गया है। परमात्मा में विश्वास रखो, सुधा! निश्चय ही वह तुम्हारे दुःख दूर करेगा..."

सुधा जैसे तिलमिलाई। एक उमेठ-सा खाकर उसने हरकत की, उसकी आँखे ऊपर उठीं, एक क्षण के लिए मेरी आँखों को बेधती चली गई—और फिर नीचे को झुक गई। वह बोली कुछ नहीं।

अचकचाहट और असमञ्जस के आक्रमण को वापस करने का सफल-असफल प्रयत्न करते हुए मैंने फिर कहना शुरू किया, "तुम्हें मैं कभी नहीं भूल सकूँगा, सुधा! सच जानो, तुम्हारा संसर्ग पाकर मैंने गौरव का ही अनुभव किया है। और मैंने कोशिश की है कि तुम्हारे संसर्ग को दृढ़ सूत्र में बाँध लूँ, उसे पूर्ण रूप से अपना लूँ—अपना बना लूँ। लेकिन... सुधा, मैं फिर कहता हूँ कि मुझे ग़लत मत समझना......"

कुछ देर रुककर मैंने फिर कहा—"हो सकता है, यह एक कमज़ोरी हो; लेकिन यह ऐसी कमज़ोरी नहीं है, जो समझ में न आ सके या जिसे असंगत तथा अस्वाभाविक ठहराया जा सके। ज़रा-सा सोचने पर तुम खुद समझ जाओगी कि जिन दो आत्माओं को चिर-सूत्र में बँधना है, एक-दूसरे के लिए जिन्हें पूर्ण आत्म-समर्पण करना है, वे अगर यह आशा करें कि एक दूसरे के बीच किसी प्रतिद्वन्दी की छाया न हो, तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता—उनकी ऐसी आशा करना सहज स्वाभाविक ही है..."

"हाँ, ठीक कहते हो, सुधा के मुख से निकला, "और इसके लिए मैं तुम पर अब ज़ोर भी नहीं दूँगी..."

इतना कहकर सुधा चुप हो गई। कुछ क्षण के अवकाश के बाद उसका स्वर सुनाई पड़ा, "अछूती कन्या से प्रेम करने की इस आकांक्षा के स्वाभाविक या अस्वाभाविक रूप की परख करने मैं नहीं जा रही हूँ। हाँ, इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहना चाहूँगी कि इस आकांक्षा के पीछे और कुछ भले ही हो, पुरुषत्व की जीत या गौरव तो इसमें ज़रा भी नहीं है। एक ऐसी युवती को जिसकी उमर कच्ची है, घर की चहार-दीवारी से बाहर क़दम रखने का जिसे अवसर नहीं मिला है, गर्दन उठाकर जिसने सामने की ओर देखा तक नहीं है, उसका पाना तुम लोग एक श्रेय सकझते हो, उसे पाने में गौरव का अनुभव करते हो! लेकिन एक ऐसी युवती, जिसकी उमर परि-पक्व हो चली है, जिसने जमाना देखा है और विभिन्नताओं के संसर्ग में जो आ चुकी है, परखने की सामर्थ्य जो रखती है, उसे तुम दूर रखना चाहते हो—बड़ी सफाई के साथ! दम्भ की भी एक हद होती है!!"

"लेकिन, सुधा......" पर उसने मुझे बोलने न दिया। बीच में से ही काटते हुए बोली—"बस, रहने दीजिए। 'डिबोटिङ्ग क्लब' को क्रियात्मक रूप देने के लिए मै यहाँ नहीं आई हूँ!"

और वह चली गई।

दूसरे दिन सुधा का एक पत्र मिला, लिखा था—

"मैं जा रही हूँ, शायद सदा के लिए। धृष्टता के लिए क्षमा करना!"

फिर, 'पुनश्च' के बाद, एक पंक्ति और थी—

"काश, मै तुम्हारी ही हो सकती!"

वर्जित प्रदेश

कौतुक का प्रवेश तो बहुत पहले ही हो चुका था, लेकिन पन्द्रह वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते वह और भी ज़ोर पकड़ गया। अपने को किसी के हाथों में सौंपने से पहले मैंने चाहा कि पुरुष-जाति को देखूँ, समझूँ और अच्छी तरह से उसका अध्ययन करूँ। अपने में मुझे विश्वास था और मैं निश्चिंत थी कि इस दौर को बिना हाथ जलाए ही पार कर सकूँगी। खतरा मुझे कहीं भी नजर नहीं आता था। आगे बढ़ने के लिए मैं रह-रह कर मचल उठती थी। मेरी आयु का तक़ाज़ा, प्रेम की प्रथम हिलोरें, सारे दिवास्वप्न—सब कुछ इसी एक चाह में परिवर्तित होकर रह गए थे।

लेकिन जैसे ही मैं आगे बढ़ती, वैसे ही मुझे पीछे ढकेल

दिया जाता। घर के आदमियों तक को मैं देख-सुन नहीं सकती थी। बाते करते समय यदि मैं कभी पहुँच जाती तो जैसे उन्हें साँप सूँघ जाता था। तब मुझे याद दिलाया जाता कि मास्टर साहब के आने का वक्त हो गया है। सबक़ याद न कर मैं इधर-उधर क्यों घूम रही हूँ। मजबूरन पुस्तक लेकर बैठती और सबक़ याद करने के बजाए खूसट मास्टर साहब को कोसा करती।

यह नहीं कि घर वाले मेरे सामने बातें करते ही न थे। बाते तो करते थे, लेकिन वे बाते बाते नहीं होती थीं। आटा-दाल-कपड़े मँगाने या बनवाने का तक़ाज़ा होता था। बातों के वक्त तो मुझे किसी-न-किसी बहाने से हटा दिया जाता था और अन्दर-ही-अन्दर घुमड़ती हुई मैं वहाँ से हट जाती थी।

बड़ी अहतियात से, झाड़-पोंछ और हवा-पानी से बचाकर, मुझे रखा गया था। शंका-समाधानों और इधर-उधर की बातों के लिए 'नो एडमिशन' की तख़्ती लटकी हुई थी। जो सुनना चाहती, वह सुनने नहीं दिया जाता और जो जानना चाहती, उस पर परदा डाल दिया जाता। हिर-फिर कर खूसट मास्टर, नीरस पुस्तकों और बेज़ुबान गुड्डे-गुड्डियों की दुनिया में मुझे रहने के लिए मजबूर किया जाता।

चारों ओर से बन्द इस घरौंदे में मैं पली और पनपी। अंधकार में मैंने उल्टी-सीधी कल्पनाएँ कीं, विचित्र-विचित्र चित्र गढ़े। उनमें उलझी भी रही और इस व्यस्तता से अपने रिक्त की पूर्ति के प्रयत्न भी किए, लेकिन आगे न बढ़ सकी। इन कल्पनाओं और चित्रों की अपूर्णता बराबर खटकती रही। अंधकार को अंधकार के अतिरिक्त मैं और कुछ न समझ सकी। न उसे अपना सकी और न-ही उससे कोई समझौता कर सकी।

चारों ओर दीवारों से घिरे हुए स्कूल का लान, चाँदनी रातों के पिकनिक, हमजोलियों का जमघट और उनकी कौतुक-पूर्ण बाते अब तक नहीं भूली हैं। हम सब बातें करती थीं प्रेम पर, प्रेमियों पर, विवाह और दूर-पास से देखे-अनदेखे युवकों पर। दुनिया को जितना भी हम देख सकी थीं, उसी की संकीर्ण जमीन पर हमारे हवाई महल खड़े होते थे। जहाँ-तहाँ भूले-भटके कानों में पड़े वाक्यों को सैकड़ों बार उलट-पुलट कर हम दोहराती थीं, मगर समझ कुछ न पाती थीं। बड़ी ही विचित्र कल्पनाएँ हमारी होती थीं, उन्हें लेकर उठे प्रश्न और भी विचित्र होते थे और हम उलझ-उलझ कर रह जाती थीं।

युवक मेरे जीवन में आए ही नहीं, यह कहना ग़लत होगा। लेकिन उनका आना न आना बराबर रहा। पास रह कर भी मैं उन्हें देख न सकी। मेरी उपस्थिति में अपने वास्तविक रूप को छोड़ कर जैसे वह अभिनय करने लगते थे। दूर से मैंने देखा है कि चले आ रहे हैं, खुल कर बातें और हँसी-मजाक हो रहा है, लेकिन मेरे सामने आते ही जैसे उन्हें सतर्क हो जाना होता है। बातें वह तब भी करते हैं, हँसते भी हैं, लेकिन वह पहले वाली बात उनमें नहीं रहती। कोशिश करने पर भी अपनी अनुपस्थितिवाले वातावरण को मैं लौटा नहीं सकी हूँ और पहले वाले सिलसिले को जारी रखने की तमाम कोशिशें बेकार गई हैं!

दीन-दुनिया से बेखबर और अपने में मस्त हँसते-बोलते जाते हुए जब कभी युवकों को मैं देखती तो दूर तक मेरी आँखें उनका पीछा करतीं। मेरे हृदय में टीस-सी उठती और उनके इस रूप का परिचय पाने के लिये मैं बेचैन हो उठती। उनके

होठों को हिलता मैं देखती, सुन कुछ भी नहीं पाती और मुझे लगता कि वह एक ऐसी रहस्यमयी और अज्ञात भाषा में बातें कर रहे हैं, जिससे मेरा परिचय नहीं, परिचय होने की सम्भावना भी नहीं।

विवाह की मेरी बाते चलीं। ज़ोर भी उन्होंने पकड़ा। लेकिन मै इसके लिए तय्यार नहीं थी। तय्यार हो भी नहीं सकती थी। विवाह से पहले मैं पुरुष को समझना चाहती थी। आँखे बन्द कर रहस्य के क़दमों पर बलि देने के लिये अपने को प्रस्तुत करना मुझे नारी जाति का अपमान मालूम हुआ। आप इसे पागलपन कहें या कुछ और, लेकिन विवाह के ऐन मौके पर मै घर से निकल पड़ी। मैने पुरुष वेष धारण किया और अपने नारी-रूप को अपने ही पाँवों से कुचलती हुई आगे बढ़ी।

× × ×

अपनी शंकाओं और हृदय की ज्वाला को शान्त करने के लिए मेरे सामने और कोई रास्ता न था। मित्र, प्रेमी और पति के रूप में मैं पुरुष को पा सकती थी, लेकिन वह एक नितान्त अपूर्ण झाँकी होती। नारी रहते हुए पुरुष की पूर्ण झाँकी पाना सम्भव नहीं। उसका रोमांस ही हमारे सामने आता है, इतिहास नही।

कितने अंधकार से हम घिरी रहती हैं! प्रेमी और पति के रूप में जो हमारे सामने आने वाले हैं, जिनके लिए हमें पाल-पोसकर बड़ा किया जाता है, उनके बारे में हम कुछ भी नहीं जान पातीं! जैसे वह किसी दूसरे लोक के, एकदम भिन्न जीव हों। उनके लिये जो ग्राह्य है, वह हमारे लिए त्याज्य है। आखिर क्यों? क्यों नहीं हमें आगे बढ़ने दिया जाता?

हमारी तमाम शिक्षा-दीक्षा विधि-निषेधों के चक्कर में ही घूम-कर क्यों रह जाती है? ज्ञान का अंधकार ही जैसे हमारी सीमा है! पढ़ाई-लिखाई और कुछ सीखने-सिखाने के दिन, क्या नहीं सीखना चाहिए, यही बताने में बीत जाते हैं और कुछ सीखने की नौबत नहीं आ पाती। आख़िर क्यों? क्यों... हमें ..!

इस "क्यों?" का उत्तर मैंने अब पाया है—नारीत्व के "गुणों" को तिलाञ्जलि देकर। न-केवल पुरुषवेश ही, बल्कि पुरुषरूप भी अपना कर। इस रूप में अगर परमात्मा देख पाये—देखने की अगर उसमें शक्ति हो तो—उसे भी अपनी भूल स्वीकार करनी पड़े कि स्त्री न बनाकर उसे मुझे पुरुष बनाना चाहिए था। जो भी हो, इस रूप में मैं पुरुष को तटस्थ होकर देख पाती हूँ। नारी होते हुए भी मैं नारी नहीं हूँ। पुरुष तो मैं हूँ ही नहीं। रोमांस ने मुझे अंधा भी नहीं बना दिया है। मिट्टी के पुतलों को मिट्टी के पुतलों के ही रूप में देखती हूँ—सजीव मूर्त्ति के रूप में नहीं।

अब मैं पुरुष को उसके अपने रूप में, उसके अपने क्षणों में, बिना किसी बाधा के देख पाती हूँ। मेरी उपस्थिति में अब उन्हें सम्भलने की ज़रूरत नहीं पड़ती। पहले की तरह न उन्हें अब अपना कालर ठीक करना पड़ता है। न पेशानी का पसीना पोंछने की जरूरत होती है। पर फैलाकर आसमान में उड़ते नहीं, ज़मीन पर घिसटते अब मैं उन्हें देखती हूँ। उनकी भाषा अब निरी गुलाबी बनकर ही मेरे सामने नहीं आती.. धुली-धुलाई, उपमा और अलंकारों से विभूषित। अब उन्हें मेरे लिए आँखें बिछाने की भी ज़रूरत नहीं होती, गले का हार भी वह

नहीं बनते, और न-ही घड़ी-घड़ी में अब उनका दम निकलता है।

चहारदीवारी में बन्द रखने तथा दुनिया-भर के विधि, निषेधों के बजाय यदि युवतियों को पुरुषों की यह झाँकी दिखा दी जाए तो उनके दिलो दिमाग़ का बुखार चुटकी बजाते ग़ायब हो जाए। यदि उन्हें मालूम हो जाए कि जिनके लिए वे हर घड़ी आहें भरतीं और रात को तारे गिनती हैं, दिन-रात जिनके नाम की माला वह जपती हैं और दीन-दुनिया को जिनके लिए वह छोड़े बैठी हैं, आँखों की ओट होने पर, पुरुष-मण्डली में, वे उन्हें किस रूप में पेश करते हैं, स्वप्नों की रानी हृदय के सिंहासन से उठाकर कहाँ पटक दी जाती है, किस प्रकार उसकी छीछालेदर होती है, दो घड़ी का मनोरञ्जन करने वाली कठपुतली के रूप में किस बुरी तरह उसे नचाया जाता है, किस तरह से अङ्ग-अङ्ग उसका नोचा और प्रदर्शित किया जाता है तो उसके होश ठिकाने आ जाएँ।

सिगरेट का क़श लेते और मुँह की चिमनी से धुँवा छोड़ते हुए जब वह अपने प्रेम-प्रयोगों का ज़िक्र करते हैं, कुमारीत्व के दुर्भेद्य दुर्ग पर आक्रमण करने का विवरण देते हैं, प्रेमिकाओं को क़दमों पर गिराने के लिए पेटेन्ट नुस्खे तजवीज़ करते हैं, तब मालूम होता है कि उनके हृदय की रानियाँ किस खेत की मूली हैं! दो घड़ी पहले जो किसी के क़दमों के नीचे बिछ जाने को तय्यार थे, वही अब उसकी दुर्गति करने पर उतरे हैं।

इन तमाम बेहूदगियों और लन्तरानियों के बीच एक ही बात झलकती थी—नारी जाति के प्रति बीभत्स अवज्ञा, बेदर्दी का बेतुका भाव। कुछ ही क्षणों में मैंने जो कुछ सीखा और

जाना, आचार के ठेकेदारों के उम्र-भर व्याख्यान सुनकर भी कोई इतना नहीं सीख सकता !

स्कूल की चहारदीवारी को नाँघकर संसार की रंग-बिरंगी झाँकी पाने की उत्कट अभिलाषा हृदय में छुपाए युवक के रूप में मैंने अपने को पेश किया और पुरुष-समुदाय के बीच जा खड़ी हुई।

होटल की वह पार्टी मै भूल नही पाती हूँ। चौकड़ी जमा थी। कुछ अपरिचित भी आ मिले थे। मद्यनिषेध के आन्दोलन का तब चर्चा नहीं था। उनकी बाते मै सुन रही थी, हरकतें देख रही थी। कपोल कानों तक लाल हालाँकि नहीं होते थे, लेकिन हृदय में उथल-पुथल मची हुई थी। मेरी तटस्थता और चुप पर रह-रह कर चुटकी ली जा रही थी। अपनी प्रेम-कहानी को दोहराने के बाद एक मेरी ओर मुखातिब हुआ, "कहो यार, तुम्हारे दिल में भी कभी कुड़-कुड़ होती है कि नहीं ? पड़ा है किसी से पाला अब तक ?"

और उसी रात को यह नौबत आ गई। हुआ यह कि साथी थे अधिक और बिस्तरे कम। सिवाए इसके और कोई रास्ता न था कि एक-एक पर दो-दो क़ब्जा जमाएँ। औरों के लिए तो इसमें कोई दिक़्क़त न थी, लेकिन मैं असमञ्जस में पड़ गई। शरीर के ऊबड़-खाबड़ और उतार-चढ़ाव को तो चुस्त कपड़ों से मैंने ढक रखा था। लेकिन तमाम लबादे को पहने सोना मुश्किल था। ऐसे वातावरण और इस तरह की स्थिति में अपने नारी-रूप को प्रकट करना तो और भी आफ़त थी।

मुझे जिसका साथ देना पड़ा, वाजिबी मिक़दार में उसे

नशा हुआ था। पड़ते ही वह चित्त हो गया। मेरी मुसीबत कुछ हल्की हुई। दीवार की ओर मुँह कर मैं भी पड़ रही।

एक ही बिस्तरे पर, पुरुष-रूप में, एक पुरुष के साथ मै सोई थी। अपने को सँभाल रखने की निरन्तर कोशिशों के करते हुए भी मै अस्तव्यस्त हो चली। हृदय में एक अजब खलबली-सी मची हुई थी और सारे शरीर में सन-सन-सी हो रही थी। मेरा साथी सोया पड़ा था और सोता रहा, लेकिन मेरी आँखें एक घड़ी के लिए भी न झपकीं।

पुरुष की जो झाँकी मैंने पाई थी, मैं ही नहीं, कोई भी नारी उसे क्षमा नहीं कर सकती। हृदय, घृणा और विद्रोह के भावों से भरा था। एक ही विस्तर पर सोते हुए भी मै उससे हटकर दूसरे छोर पर सोई थी। कोशिश करने पर भी जब आँख न लगी तो कोहनियों को बिस्तरे पर और ठोड़ी को हथेलियों पर टेके मैं देखने लगी—सुन्दर युवक, गोरा रंग, काले वाल और सुडौल शरीर।

आशंका की गुञ्जाइश कोई नहीं थी, फिर भी हृदय जोरों से धड़क रहा था। करवटें बदलती थीं, पर नींद का कहीं कोई पता न था।

चारों ओर सन्नाटा छाया था। कमरे का क्षीण प्रकाश बुद-बुदा कर बुत गया। अधकार की दीवार हम दोनों के बीच आ गई। लगा कि जैसे सब कुछ खो गया है और अपने जीवन से भी जैसे मैं बेगाना हो गई हूँ। एक बार जी में आया कि उठ खड़ी होऊँ, लेकिन फिर तुरत ही इस प्रयत्न की व्यर्थता सामने आ गई और सम्पूर्ण अङ्गों को ढीला छोड़ कर लेट रही।

सीधी लेटी मै कुछ सोचना चाहती थी, लेकिन सोच कुछ

भी न पाती थी। इधर-उधर घूम-घाम कर यही सत्य सामने आ खड़ा होता था कि पुरुष रूप में मैं एक ही बिस्तरे पर लेटी हूँ। इस ख़्याल ने मुझे इतना घेर लिया था कि मैं आशंकित हो उठी, हृदय जैसे मचल उठा एक बार जगाकर उसे दिखाने के लिए कि मैं पुरुष नहीं, नारी हूँ। मेरा हाथ अनायास ही आगे बढ़ा भी, लेकिन कपड़ों में उलझकर रह गया और मैं सतर्क हो उठी, अपने को मैंने सँभाल लिया।

काम का विकार वह निश्चय ही नहीं था। उसके प्रति मेरे हृदय में न कोई प्रेम था, न आकर्षण—सिवाए इसके वह नारी न होकर पुरुष था। इतना ही मेरे लिए काफी था। रहस्य की तरह जिसे हमसे छिपाया गया था, एक ऐसा विचित्र जीव जिसके बारे में हम कुछ भी नहीं जान पातीं, वही पास में सोया था।

उत्कट और उद्दण्ड कौतुक ने हृदय में प्रवेश किया, उन तमाम शंकाओं को जो रह-रह कर मेरे दिलो दिमाग़ को परेशान करती रहती थीं, एकबारगी शान्त करने के लिए मैं हुमक उठी। ज़रा-से इशारे मात्र से रहस्य का परदा दूर हो सकता था।

लेकिन इस कौतुक और उत्कट अभिलाषा का अन्त सर्वमान्य प्रतिष्ठित स्टैंडर्ड पर क़ायम रहा—यानी कुछ न हुआ। दीवार पर गड़ी आँखों ने अंधकार में से खिड़की को उभरते हुए देखा। आलोक कमरे में प्रवेश हो रहा था और वह युवक अभी तक गहरी नींद में डूबा हुआ था। कम से कम उसकी नींद के टूटने के अभी तक कोई आसार नहीं नज़र आ रहे थे।

उठकर मैंने अपने कपड़ों को ठीक किया, फिर एक बार उपेक्षापूर्ण दृष्टि से युवक को देखा और उसे उसी अवस्था में छोड़ चल दी—दूसरे युवकों का परिचय पाने के लिए। देखते-देखते युवक मेरे जीवन का एक अंग बन गए। फिर युद्ध का विस्फोट हुआ और मैं अब भी, 'वीमेन्सकोर' की अधिनायिका के रूप में, यौवन और उत्साह के प्रतीक सैनिकों का साथ दे रही हूँ।

दहकते अंगारे

पतिया का ब्याह बहुत छोटी आयु में ही हो गया था। उसे कुछ भी याद नहीं पड़ता कि उसकी शादी कब हुई थी। वह पाँच-सात साल पहले तक की बाते अपने छोटे से दिल के अन्दर टटोल-टटोलकर किसी प्रकार पहचान लेती है। पर कभी 'दुलहिन' बनने की बात का पता नहीं लगा पाती। हाँ, लोगों के कहने-सुनने, अपना घर छोड़कर पराये घर में रहने, हाथ में काँच की ज़रा से ठमके से टूट जाने वाली कमज़ोर चूड़ियाँ पहनने, मुँह को मोटी धोती के घूँघट में छिपा रखने और इसी तरह की अन्य बहुत सी बातों की वजह से पतिया को इसका पता चलता—कि वह पओहाँ गाँव की लड़की और कमासिन गाँव की बहू है।

उसकी उमर बारह-तेरह बरस से ज्यादा न होगी। शरम-लिहाज की उसे कुछ फिकर नही है। ससुराल के घर मे भी उसका सिर खुल जाया करता है और उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य से चारों ओर घूरने लगती हैं। लड़कपन उसका अभी तक नही गया। उसे नैहर की सुध और वहाँ के खुले आसमान के नीचे होनेवाली हर घड़ी की बातें तड़पाती रहती हैं।

यौवन—उसने पतिया को नही छुआ! उसका शरीर अरहर के पेड-सा दिखता है—पतला-पतला, साधारण-सा, बिना किसी सुन्दरता के। रस भरे पौड़ेवाली बात उसमें नहीं उत्पन्न हुई। अंगों में उभार का कहीं कुछ पता तक नहीं चलता। ऐसा लगता है कि सावन के बादल इस तरफ देर में आवेंगे।

इस समय वह ससुराल से भागकर नैहर जा रही है। दोनों जगहों में दो कोस का अन्तर है। सीधी सड़क उसने नहीं पकड़ी है। लोगों की आँखें बचाकर, चिलबिली-सी, खेतों, खड्डों और ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों को पार करती, दौड़ती गिरती-फाँदती, बढ़ी जा रही है। कुछ दूर चली जाती है, तब फिर जल्दी से गरदन को मोड़कर, दूर तक देखनेवाली अपनी आँखों से, पीछे की ओर देख लेती है। किसी को आता न देख निरापद घर पहुँचने की आशा बलवती हो उठती है। उसकी मैली-सी लट्ठे की धोती लापरवाही से उसकी देह से इधर-उधर फिसल जाती है। कभी सर बिलकुल खुल जाता है। उसके उलझे बाल मैदान की हल्की हवा में संसार को नापने लगते हैं और फिर अपने में ही उलझ कर रह जाते हैं। कभी धोती का पल्ला खसककर झरबेरियों के काँटों से छिद जाता है। वह रुकती है। उसे छुड़ाकर फिर आगे बढ़ती है। माथे पर हाथ गया

तो वहाँ कुछ सूना-सूना-सा लगा। उसने देखा, टिकुली वहाँ नहीं है। कहीं जल्दी में गिर पड़ी होगी। कुछ भी अफसोस या आशंका नहीं हुई। चूड़ियों की खनक से भयभीत हो वह उन्हें बार-बार हाथों के ऊपरी हिस्से पर चढ़ा लेती है। कोई इधर-उधर खेतों में कहीं बैठा उसे ताक तो नहीं रहा, मेड़ों पर क्षण भर के लिए खड़ी हो, चारों तरफ देख, वह आगे चल देती है। ज़रा भी तो उसे दुख नहीं है। ज्यों-ज्यों आगे क़दम पड़ते हैं, उसकी ख़ुशी छलकती आती है। ठोकर खाकर दो-तीन जगह गिर पड़ी। दोनों हाथों की चूड़ियाँ उसने तोड़ डालीं। सिर्फ एक हाथ में एक चूड़ी रह गई है। दूसरा हाथ बिलकुल सूना हो गया है। इधर-उधर हाथों को मलकर केवल चलती ही जाती है। दूर पर खड़े पेड़—इमली के, पीपल के, और नीम-बबूल के—अड़कर उसका रास्ता रोकने में समर्थ नहीं हो पाते। वह बढ़ती ही जा रही है।

शाम का समय है। पच्छिम में दिन ढल रहा है। सुनहला रंग छा गया है। पैर के पास की मिट्टी, आस-पास के पेड़ और आसमान, सब सुन्दर हो गये हैं। लौटते हुए पक्षी भी चोला बदलकर जाते दिखते हैं। पतिया भी पच्छिम की लाली में रँग गई है। मैली धोती का रंग मिलकर उसमें सुनहलापन आ गया है। उसके हृदय में चम्पई प्रकाश उतर आया है। आँखों में जगमगाहट जग गई है। ओठों और कपोलों पर तो जैसे लाल गुलाब की कलियाँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं।

पतिया का हृदय—मानो अँधेरे में दिया जल उठा है। अनायास ही ससुराल के चित्र आँखों के सामने घूम गए। टूटा-सा कच्चा घर, कुआँ, गोबर-कंडों का ढेर और दो-चार

बकरियाँ इन सब को वह मिटा देना चाहती है। वह वहाँ नहीं जाना चाहती। उसे अपने ससुराल से नफरत है। पति का नहीं, जैसे दैत्य का वह घर है। वह वहाँ नहीं रहेगी। वह अपने मायके में ही रहेगी। मायका बहुत प्यारा है। सब कुछ अपना ही अपना—पराया, कुछ भी नहीं। मायके की खुली हवा में आँखे तैरा करती हैं, हृदय हुमुकता रहता है।

पछौहाँ के जाने-पहचाने पेड़ और खेत मिलने लगे। गहरी मुहब्बत जग उठी। पतिया बेफिकर हो चली। भूल गई अपने तन और मन को। इन्हें देखते ही चैन मिलता है। सुस्ती उतर जाती है। हृदय प्रसन्न होकर आँखों और कपोलों पर नाचने लगता है। पीछे गरदन्न फेरकर देखती है। ससुराल का चिह्न तक नहीं दिखाई पड़ता। पंजों पर खड़ी होकर देखती है—कुछ भी नहीं दिखाई देता। खुश हो जाती है। दोनों हाथ सीने के पास आकर मिल जाते हैं। हँसी बरस पड़ती है।

अलसाती चाल से वह घर की तरफ जाती है। लोग क्या कहेंगे, उसे कुछ सूझता ही नहीं। वह पछौहाँ की है, पछौहाँ आई है। वह कमासिन में नहीं रहना चाहती। कोई जबरदस्ती उसे वहाँ नहीं रख सकता। इतने दिन वह वहाँ रह ली, यही कौन कम है। मा उसे देखकर फूली न समायेगी। पिता, भाई, बहन—सबके सब उसे गले लगाकर खूब खुश होंगे। मा ने कहा था, जल्दी वह उसे बुला लेगी। देखते ही मा की सब परेशानी अब दूर हो जायगी। घर पहुँचते ही घर का कोना-कोना वह झाँक आयेगी। झाड़ू लेकर सारा कूड़ा-करकट, उसकी गैरहाजिरी में न जाने कितना जमा हो गया होगा, निकाल कर बाहर घूरे पर फेंक आयेगी। पानी भरने के कच्चे घड़े सिर और

कमर पर रख कुये पर जायगी और गाँव की औरतों को अचरज में डाल देगी। वह कहेगी—"देखो, मै आ गई। तुम कहती थीं, ससुराल जाकर मैं अपने मायके को भूल जाऊँगी। लेकिन पतिया ऐसी नहीं है। उसे तुमने जरा भी नहीं समझा...।"

आसमान की स्याही अभी गाढ़ी नहीं हुई थी। सोने का उजाला ज़रूर मिट चला था, पर अभी इधर-उधर दिखाई देता था। विदा होने से पूर्व पतिया का गृह-प्रवेश देखने के लिए जैसे वह भी ठिठककर खड़ा रह गया था।

(२)

घर में मिट्टी के तेल की डिब्बी जल रही थी। काले आले में लौ स्थिर-वृत्ति से प्रकाश दे रही थी। रोशनी हर एक वस्तु पर पूरी तरह नहीं, बल्कि अपने साथ कुछ अँधेरा लेकर पड़ रही थी। ऐसा नहीं कि अनजान आदमी भीतर आकर चीजों को तुरत पहचान ले। रोज आने-जानेवाला प्राणी ही बिना ठोकर खाये घर में पाँव रख सकता था।

"ओ मा...!" कहकर पतिया भीतर घुसी। बाप मचिया पर बैठा आँगन में हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। चौंक कर बोल उठा—"पतिया बेटी, तू कैसे ?"

भाई झिंझरी खाट पर पड़ा था। वह भी उठकर बैठ गया। कहने लगा—"अरे, तू आ गई !"

मा भी चूल्हे पर रोटी पकाते-पकाते बोली—"आ गई !"

"आ गई मैं—तुम लोगों के पास आ गई—तुम्हारी पतिया आ गई !"

"पतिया आ गई !" मा ने कहा और तवे को जलता छोड़ बाहर आँगन में निकल आई।

"बिटिया, कैसे आई ?" बाप ने पूछा।

"अकेले आई क्या ?" भाई ने पूछा।

इन सब सवालों का जवाब स्थगित कर पतिया मा के पास सट खडी हो गई, फिर बोली—"मन मेरा, मै चली आई। किसी के साथ नही, अपने आप अकेले चली आई हूँ।"

"अरे, यह क्या हुआ वेटी ?" मा ने पतिया को सिर से पाँव तक देखते हुए कहा—"न मांथे पर टिकुली, न हाथ में चूडी। तुझे हो क्या गया है, देखते हो पूरन के बाप, कुछ समझ में नहीं आता ! तू खड़ी क्या है, बैठकर सब हाल बता।"

चूल्हा अपनी जीभ लपलपाकर तवे को चाट रहा था। तवे पर पड़ी रोटी अपने भाग्य को कोस रही थी। पतिया ने एक बार घबराहट की नजर से अपनी मा की ओर देखा। फिर कहने लगी—"मै बड़ी मुश्किल से आई हूँ। रोज तुम्हारे बुलाने की बाट जोहती थी, तुम तो मुझे भूल ही गई। आखिर अपने आप आज चल दी। मै तुम लोगों के बिना नहीं रह सकती। इसी से मुझे बड़ी रुलाई आती थी। सोचती थी, यहाँ से कभी छुटकारा न पाऊंगी। मा, मैंने बड़ा अच्छा किया जो चली आई।" कहते-कहते उसने अपनी गीली आँखे पोंछ लीं।

"पागल कहीं की ! भला इस तरह भागा जाता है। ससुराल कोई दूसरा घर थोड़े ही है। बड़ी नासमझ है। अच्छा तो चल ! रोटी खा ले। पूरन, तू भी खा ले।"

मा ने दोनों को परोस दिया। वह रोटी बेलती जाती थी और कहती जाती थी—"पूरन, तेरा बहनोई जाने क्या सोचता होगा ? घर भर परेशान होगा कि अचानक पतिया को कौन उठा ले गया, वे सोचते होंगे..."

"हाँ-हाँ, बड़े आये सोचनेवाले !" मुँह में गुस्सा भर पतिया ने कहा—"मेरी जान आफत में आ गई। इतने दिन वहाँ क्या रही जैसे मौत के मुँह में रही। दिन रात बस अकेले पड़ी-पड़ी सड़ती रही। यहाँ आकर मुँह खोलने की आजादी मिली है। अगर भाग न आती तो मा, तुम्हारी बिटिया मर ही जाती। तुम्हारा प्यार तुम्हारे घर में ही धरा रह जाता। भैया, कल तुमसे कोई कमासिन गाँव का अगर आकर पूछे तो कह देना मै यहाँ नहीं आई। सच्ची, कह देना, मैं मर गई। बापू, जरा एक रोटी और खा लूं, तब तुम्हारा हुक्का बहुत अच्छी तरह भरकर दूँगी। देखना, पीने में कैसा मजा आता है। मैं अभी कुछ भूल नहीं गई हूँ !"

इतने में मा डिब्बी लेकर भीतर की कोठरी से कुछ चूड़ियाँ और टिकुली का एक पत्ता ले आई—"ले पहन !" बिना हीला हुज्जत किये पतिया ने दोनों हाथों में चूड़ियाँ पहन लीं। एक टिकुली भी मोम लगाकर माथे पर चिपका ली।

मा ने कहा—"अब कभी न उतारना ये सोहाग चिह्न !"

"ले, मेरा हुक्का तो भर ला !" बाप ने पतिया के हाथ में हुक्का थमाते हुए कहा।

दौड़कर पतिया तमाखू लेकर भरने लगी। लाल-लाल चिनगारियाँ चिमटे से दबा-दबाकर चिलम पर रख रही थी। एक-दो हाथ से भी उठाकर रख दीं।

"लो बापू हुक्का भर गया। पिओ।" उसने कहा।

खाना सब खा चुके थे। मा भर बाक़ी थी। उसने भी खाना शुरू किया। पूरन फिर अपनी खाट पर लेट गया था। मा खाती जाती थी और पतिया से बाते करती जाती थी। हुक्के

का धुआँ चिलम की आँच में उठता हुआ दिखता, फिर थोड़ी दूर उठकर खो जाता था।

"तुझे कोई भागते देख लेता तो.. ?" मा ने पूछा।

"तो मै फिर कभी न आ पाती।" पतिया ने कहा।

"तुझे वहाँ कौन दुख था ?"

"मेरा अपना वहाँ कोई न था मा और..."

"पागल नहीं तो। वही घर तो तेरा अपना है। यह घर तेरा नहीं, तेरे भाई का है। अभी तू कुछ नहीं समझती, आगे चलकर समझेगी।"

"नहीं मा, यही मेरा घर है। वह घर तो पराया है। तुम्हारा कहना गलत है मा। तुम मुझे बहकाती हो। मै सब समझती हूँ।"

"सयानी है न जैसे—छोटी-सी तो है और पुरखिन की तरह बाते करती है। समझ होती तो भला कमासिन से काहे को भागती ?"

"मा, अगर मैं यह जानती कि तुम भी ऐसा कहोगी तो मैं यहाँ कभी न आती, वहीं किसी कुएँ में डूब मरती। मुझे चोट लगती है, जब तुम ऐसी बातें करती हो। मेरा यही घर है मा, वह नहीं।"

मा ने कुल्ला किया और दोनों मा-बेटी एक खाट पर पड़कर फिर बातचीत करने लगीं। डिब्बी बुझ गई थी। रात के अँधियारे में केवल दोनों के दिल उजाला किये थे।

"हाँ बेटी, तेरा कहना ठीक है, जब मै अपनी आँखें पीछे की ओर फेरकर बड़ी दूर तक ताकती हूँ तो मुझे भी याद आती है कि एक दिन मै भी तेरी ही तरह सोचती थी। अपना घर बड़ी मुश्किल से छूटता है। दूसरा घर

बड़ी मुश्किल से अपना बनता है। पर आज मेरा यही घर है। मेरी सारी उमर यहीं बीती और जितने दिन बाकी हैं, वह भी यहीं बीत जायेंगे। कुछ दिनों बाद तू भी सब समझ जायगी।

यह कह मा ने पतिया को अपने गले से लगा लिया और हलकी-हलकी थपकी देते हुए चुप हो गई। अपने-पराये का सब भेद मा की थपकियों ने भुला दिया। पतिया चुपचाप पड़ी रही। न हिली, न डुली। उसे इसका भी पता नहीं चला कि इसी अवस्था में पडे-पड़े उसे कब नींद आ गई? पतिया सो गई थी, किन्तु उसकी मा जाग रही थी।

(३)

दूसरे दिन सबेरे पतिया मिट्टी के घडे सिर पर रख पानी भरने के लिए कुएँ पर पहुँची। रास्ते में दो-एक सहेलियों के घर पड़ते थे। उन्हें भी बुला लिया और बातचीत करती सब एक साथ कुएँ पर पहुँचीं। चारों घाटों पर गाँव की औरते पानी खीच रही थीं। घड़े जमूरा पर रखकर तीनों सहेलियाँ बात करने बैठ गईं। कुएँ के खम्भे की छाया उनको धूप से बचाये थी।

एक सहेली ने पतिया की मैली धोती की ओर संकेत करते हुए कहा—"क्या ससुराल से यही लाई है? अरे, आज पहले दिन तो नई-नई अच्छी सी धोती पहनकर आती!"

दूसरी ने कहा—"धोती न सही, चूड़ियाँ तो अच्छी-अच्छी चमकदार पहन कर आई है।"

पतिया बोली—"अरे, मैं तो ससुराल से भाग कर आई हूँ। धोती जरूर वहाँ की है, पर चूड़ियाँ तो कल रात मा ने पहनाई हैं।"

आश्चर्य से दोनों सहेलियाँ पूछ बैठीं—"अरे, तो क्या तेरी सास ने तुझे चूड़ियाँ भी नहीं पहनाकर भेजा। राम-राम, यह बड़ा असगुन किया!"

"अरे नहीं, उन्होंने तो पहना रखा था। रास्ते में टूट गईं। बस, एक हाथ में एक ही रह गई।" समझाते हुए पतिया ने कहा।

"ऐसा क्या पेड़ों पर चढ़ती-कूदती आई है? अरी वाह री पतिया, एक महीने में ही इतनी चट हो गई।" इतराकर एक ने कहा।

दूसरी कह बैठी—"नहीं-नहीं, भूडोल आ गया था और यह जमीन में धँस गई थी। बड़ी मुश्किल से इसकी ज़ान बची है। वह तो कहो कि पेड की जड़ पकड़कर निकल आई, नहीं तो वहीं की वहीं गड़ी रह जाती। चूड़ियाँ तो रगड़ से टूट गईं!"

तुम सब मनमानी हाँके जाती हो, कुछ मेरी भी तो सुनो ...!"

"हाँ।हाँ। कहो न!" दोनों सहेलियों ने एक स्वर से कहा।

"रास्ते में मै गिर पड़ी, चूड़ियाँ टूट गईं।' कहकर पतिया मुस्करा दी। दोनों सहेलियाँ भी खिलखिलाकर हँस पड़ीं। फिर एक दूसरे की ओर मतलब भरी निगाहों से देखन लगी।

"एक बात पूछूँ अगर तू बताने को कहे. ?" पहली ने पतिया से कहा।

"जरूर-जरूर!" दूसरी बोल उठी।

"नहीं, मैं ऐसे नहीं पूछती। पतिया कहे तो पूछूँ।" पतिया की ओर आँख नचाकर पहली ने कहा।

"ऐसी कौन-सी बात पूछेगी ? कुछ कह भी तो !" पतिया ने जवाब दिया।

"कहीं उन्होंने ही तो नहीं झोंटा पकड़कर तुझे घर से बाहर निकाल दिया है।" धीरे से सबसे बड़ी सहेली ने कहा।

"जरूर यही बात है। तभी तो यह लूटा-खसोटी सी दिखाई पड़ रही है !" दूसरी ने कहा।

"मेरी समझ में कुछ नहीं आता कि तुम दोनों क्या कह रही हो ? आओ, पानी भरें। घाट खाली है।" पतिया ने कहा।

बड़ी सहेली ने रस्सी गराड़ी में डाल दी। बीचवाली ने घड़े का गला रस्सी के फंदे में फँसाकर कुएँ में डाल दिया। घर्र-घर्र गराड़ी की आवाज होने लगी। बड़ी सहेली एक तरफ हुई और दो एक तरफ। पानी खींचने लगीं।

पतिया को बहुत दिन बाद सखी-सहेलियों के साथ पानी खींचने का अवसर मिला था। ससुराल में अकेले खींचना पड़ता था। कभी-कभी सास के साथ भी, पर वहाँ सखियाँ न थीं।

तीनों अपने-अपने घड़े सिर और कमर पर टिका घर की ओर चल दीं। बातें होने लगीं। बड़ी ने पूछा।

"तेरे घर में वहाँ कितने आदमी हैं ?"

"चार जने हैं। एक सास, उनके दो लड़के और एक ननँद।"

"सब कमाते हैं ?" मँझली ने पूछा।

"मेरे जेठ तो जरूर पानी भरने दो घरों में जाते हैं। लेकिन 'उनके' बारे में कुछ नहीं जानती। वे घर में नहीं रहते। चाहे काम करते हों, चाहे न करते हों। सास मेरी बड़ी शौकीन हैं। ननँद भी वैसी ही हैं। वह कभी ससुराल नहीं जातीं, वहीं

रहती हैं। जब जी में आया, काम में जेठ का कुछ हाथ बँटा दिया, नहीं तो साज-सिंगार में ही लगी रहती हैं।"

"और तू क्या किया करती है ? तू भी कहीं अपने 'उनके' साथ काम कराने जाती है या फिर सास ननँद की तरह ?"

"मै तो घर में ही पिसा करती हूँ। सबेरे से आटा पीसना, झाड़ना-बटोरना, फिर चौका-बरतन। सास-ननँद मुझे दिन भर फिरकी की तरह नचाया करती हैं। उनकी धोती पछाड़ना तक मेरे ही जिम्मे रहता है।"

"तभी तो तेरी ऐसी शकल निकल आई। देखो न, कितनी दुबली हो गई है।" मँझली ने कहा।

"तू कभी अपने उनसे भी बातें करती थी ?" कनखियों से देखते हुए बड़ी ने पूछा।

"मै किसी की बातों में नहीं पड़ती थी। बस, चुपचाप अपना काम करती रहती थी।"

• "क्यों झूठ बोलती है। कभी न कभी तो···!" ताज्जुब से मँझली ने पूछा।

"सच कहती हूँ। वह खाना खाने घर में आते थे और फिर बाहर चले जाते थे। दिन रात बस बाहर ही बाहर···।"

"पतिया, तू अभी बहुत नासमझ है। तुझसे कोई बात भी क्या करे ? देख तो मँझली को। दिन-रात अपने उनके ही राग अलापती रहती है।" बड़ी ने मजे में आकर कहा।

मँझली झेंप गई और बड़ी ने अपनी झेंप को हँसी में उड़ा दिया। कुछ देर बाद बड़ी का घर आ गया। वह बीच में ही छूट गई। मँझली और पतिया दोनों बातें करतीं कोलिया से आगे बढ़ीं।

"तूने अभी न सुना होगा कि बड़ी का पति नौकर हो गया है। चिट्ठी आई है, चिट्ठी। परसों बड़ी की मा कह रही थी कि हमारे लाला (दामाद) बबेरू की तहसील में चपरासी हो गये हैं। तहसीलदार साहब के साथ रहते हैं।" मँझली ने कहा।

"तहसीलदार साहब तो बहुत बड़े आदमी होते हैं। बड़ी के तो भाग खुल गये!" पतिया ने कहा।

"अब जल्दी ही उसका पति उसे लिवा ले जायगा। उसे यहाँ देहात में भला क्यों रखेगा? बबेरू बहुत बड़ा कस्बा है। वहाँ रोज बाजार लगता है। मोटर भी वहाँ चला करती हैं।" एक निश्वास छोड़कर मँझली ने कहा।

"तूने कुएँ पर यह सब क्यों नहीं बताया? मैं वहीं उनसे मुँह मीठा करने के लिए कहती। वह अभी जल्दी तो जानेवाली नहीं है?" पतिया ने पूछा।

"अभी तक तो जाने की कोई चरचा नहीं छिड़ी है। हाँ, बड़ी के मन में जरूर बबेरू की उथल-पुथल चला करती है।"

"क्या वह कुछ कहती थी?"

"नहीं वह कहेगी क्या? पर उसे देखकर तो ऐसा जान पड़ता है, मानों वह बहुत खुश है। धरती पर उसके पाँव ही नहीं पड़ते!"

"तेरे पति क्या करते हैं, मँझली? तूने और सब तो बता दिया, पर यह छिपा रखा, क्यों?"

"मेरे...अभी वह कुछ नहीं करते। कहते थे, शायद मदरसे में पढ़ाने की नौकरी मिल जाय।"

"तेरे सास-ससुर कैसे हैं?"

"बड़े भले हैं। खूब मेहनती हैं। मुझे वैसे कुछ दुःख नहीं

है। पर तुम सबकी जब याद आती है तो कुछ अच्छा नहीं लगता। बहन, कोई किसी का करम नहीं बाँट लेता। हम तीनों एक साथ की हैं, पर भाग सबके अलग-अलग है।" कह कर मँझली चुप हो गई।

मझली का घर आ गया। वह भी चली गई। पतिया अकेली पड़ गई। उसके हृदय में जाने कैसा क्या होने लगा? रह-रहकर मँझली की बात उसके मनमें उठ रही थी—"हाँ, हम तीनों एक साथ की हैं, पर भाग हम सबके अलग-अलग हैं!"

(४)

कमासिन आसपास के गाँवों में सबसे बडा है। पहले यहाँ तहसील थी। अब टूट गई है। गाँव में तीन तालाब हैं और एक मिडिल स्कूल है। दो पक्के मन्दिर और एक पक्की मस्जिद है। आबादी घनी है। पक्के कुएँ कई हैं। सबका पानी मीठा है। थाना है। अस्पताल में वैद्य रहते हैं। मवेशियों के बेड़ने का फाटक है। पहले बड़ा डाकखाना भी था। रोज़ डाक आती-जाती थी। अब हफ्ते में तीन दिन आती है।

ब्राह्मण-ठाकुरों की बस्ती काफ़ी है। कई घर वश्यों के भी हैं। एक महाजन का भी घर है। मौका पड़ने पर सब तरह का काम निकल जाता है। ज़मींदार पुराने ढंग के हैं। वे अपना लगान चाहते हैं। गाँव के ब्राह्मण-ठाकुरों से उन्हें और कोई खास मतलब नहीं रहता। दूसरी जातिवालों पर उनका असर रहता है। अहीर-चमार और नीच जाति के लोग उनके पाँव चूमते रहते हैं। दो-तीन घर सोनार, बढ़ई और लोहार के भी हैं।

कई कपड़े की दूकानें हैं। अच्छा-से-अच्छा माल मिल जाता है। मिठाई उतनी अच्छी तो नहीं, पर ख़राब भी नहीं होती।

ननका हलवाई की दूकान के पेड़े हमेशा से बिना खोये के होते चले आये हैं। यह कोई आज की नई बात नहीं है। बरफी फिर भी अच्छी होती है। घी-दूध सस्ता और बे-मिलावट का होता है। रोज़ के काम की सभी फुटकर चीज़ें किसी न किसी दूकान में मिल जाती हैं। डाक्टर बर्मन की दवाएँ तक बिकती हैं। बुख़ार और जूड़ी से लोग इसीलिए बचे रहते हैं।

नाई एक तो बहुत अच्छा था, पर पता नहीं, तहसील के टूटते ही वह कहाँ चला गया। न-जाने उसका छुरा टूट गया या वह अपना पेशा ही छोड़ बैठा। दूसरा नाई महावीर है। वह साधारण है। पहले उसके उस्तरे में सान रहती थी, पर अब ज़्यादातर गोठिला रहता है। जब उसके कड़े-कड़े हाथ गाल पर पड़ते हैं तो ऐसा लगता है मानो कोई पत्थर रगड़ रहा है और जब उसका पुराना छुरा चलता है तब तो यही मालूम होता है मानो कोई मैदान की घास छील रहा है।

धोबी अच्छा है, पर अब अच्छी धुलाई न मिलने की वजह से कपड़े साफ़ नहीं धोता। आज पहनो तो तीसरे दिन उतने ही मैले हो जाते हैं, जितने मैले कि धुलने को दिये गये थे।

हर दशहरे पर यहाँ रामलीला होती है। नाटक के परदे हैं। कभी-कभी नाटक खेला भी जाता है। लोगों को हर तरह का आनन्द मिल जाता है।

पतिया की ससुराल थाने के पीछे है। एक कच्चा मकान है। उसमें छोटा-सा आँगन है, तीन-चार कोठरियाँ और छोटे-छोटे दरवाज़े हैं। खपरैल है। एक तरफ़ आँगन में तीन बकरियाँ बँधी रहती हैं। उनकी मींगनी इधर-उधर पड़ी रहती है। दरवाज़े के सामने, खटिया पर, पतिया की सास सुपारी और

तमाखू का फंका लिया करती है। पतिया की ननॅद बिजली-सी इधर-उधर पास-परोस में चमका करती है। शौक़ीन है। खाने-पीने की हौस है। ससुराल उसकी देहात में है। वहाँ कमासिन-सा सुख नहीं मिलता। इसी से यहीं रहती है। बड़ा लड़का दो-एक घर में पानी भरने जाता है। पर पतिया का पति कुछ नहीं करता-धरता। पतिया की सास का गाँव के ठाकुर से कुछ लाग-लगाव हो गया है। ठाकुर साहब ही घर को धूल में मिलने से बचाए हैं।

पतिया की ननॅद मोहिनी घर में झाड़ू लगा और कूँचे को एक कोने में फक जले हुए बरतनों को लेकर माँजने बैठी है। मैली-सी चौड़े किनारे की धोती पहने है। हाथ और पैरों में चाँदी के गहने खनक रहे हैं। सिर से उतरकर धोती का पल्ला गरदन पर आ गया है। पीछे से एक बड़ा सा उठा जूड़ा दिखता है। जूड़ा गोल घेरे का भी है। सामने से देखने पर सिर में सेदुर-भरी चौड़ी-सी माँग दिखती है। कानों में तरकियाँ, नाक में पीतल की फुल्ली और गले में रंगीन कोंच और मूँगे के दानों से बनी दुलरी पड़ी है। बड़ी-बड़ी आँखों में काजल खिचा है। दाहनी ओर गाल पर एक तिल है। चेहरे पर तेल की चिकनाहट जवानी को चमका रही है। कोई कुरती या सलूका नहीं पहने है। मांजते वक्त उसके दोनों उरोज मानो छलके पड़ते हैं। रंग ज्यादा गोरा तो नहीं, पर साँवले से कुछ निखरा हुआ है। हाथ में जूना है और बरतन माँजते-माँजते वह खीझ उठी है—"अम्मा, भौजी को गये एक महीना हो गया। अब तो भैया को भेजकर बुला लो। मेरे तो हाथ घिसे जाते हैं। मुझसे यह सब नहीं होता!"

मा ने सुपारी और तमाखू की पीक थूकते हुए कहा—"बिटिया, तू तो जैसे नाजुक परी बन गई है। ऐसे बरतन हो कौन ज्यादा हैं!"

मोहिनी ने मुँह उठाकर तमतमाते स्वर में कहा—"थोड़े हैं या बहुत, मैं यह कुछ नहीं जानती। अपनी भौजी को बुलाओ। जिसका काम उसी को साजे! मुझसे यह सब नहीं होता!"

खड़ी होकर मोहिनी ने बरतना को एक साथ उठाकर बालटी में डुबो दिया और, झुके-झुके, बरतनों को धो-धोकर वह एक तरफ पटकने लगी।

"मेरा ठेगा उसे बुलावे। जैसे गई है, वैसे ही आ जावेगी। मैं उसकी लौंडी थोड़े ही हूँ। मरने दे चुड़ैल को!" गुस्से में आकर मा ने कहा।

"तो मैं भी अब बरतन न माँजूँगी, चाहे जो हो!" बरतनों को गिरते-पड़ते उठाकर भीतर ले जाते हुए मोहिनी ने कहा।

"तुझे करना हो कर; न करना हो न कर। मुझे इसकी परवाह नहीं है। आता होगा तेरा भाई। उसी से यह सब कहना!" सरौता चलाते हुए मा ने कहा।

कुछ देर बाद, एक दूसरे के आगे-पीछे, नरायन और स्वामीदीन आ गये। घर के भीतर पाँव रखते ही मा ने हाथ नचाकर कहा—"सुनते हो, दिनभर दोनों छैलचिकनिया बने मटरगश्ती किया करते हो। घर का तो कुछ खयाल ही नहीं है। लो, अपना घर सँभालो। मुझसे अब यह सहन नहीं होता। मोहिनी काम करते-करते मरी जाती है और तुम लोगों के मुँह से आह तक नहीं निकलती। मेरी लड़की क्या घूरे में पैदा हुई

है। तुम्हें जो कुछ सूझ पड़े, करो। आज से वह हरगिज़ काम नहीं करेगी।

दोनों भाई असमय की इस प्रलय का कारण जल्दी न समझ सके। पर मा के स्वभाव से दोनों परिचित थे। अधिक परेशान न हो दोनों ऐसे बने रहे मानो दूसरे क्षण ही यह सारा तूफ़ान अपने आप शान्त हो जायगा।

नरायन बोला—"स्वामी, यह बहुत बुरी बात है। देखो, अब मुझसे यह हाल नहीं देखा जाता।"

"तुम बिलकुल ठीक कहते हो। थोड़े दिनों को बहन आई और उसे भी पीसना पडता है। देखो न......कहकर स्वामी मा के मुँह की ओर देखने लगा।

मा से रहा न गया। आँखों में आँसू भरकर वह सबको कोसने लगी। बीच-बीच में गाँव के ठाकुर रामदीनसिंह का यशगान भी करती जाती थी—"तुम सब एक से हो। वह तो मरकर छुट्टी पा गये। परलोक में सुख से बैठे होंगे। मुझे अकेली छोड़ मेरी जान आफत में कर गये। यह न सोचा कि बिना पतवार के नैया कैसे किनारे लगेगी? बिटिया की ओर भी तनिक ध्यान नहीं दिया। अरे, यह तो कहो कि ठाकुर रामदीन ने मेरी लाज रख ली। नहीं तो मैं तुम सबको यहीं छोड़ एक दिन कहीं जाकर डूब मरती!"

(५)

कमासिन-तालाब के भीठा पर एक नीम का पेड़ है। स्वामी-दीन लग्गी में हँसिया लगाये अपनी बकरियों के लिए हरी-हरी पत्तियाँ तोड़ रहा है। जमीन पर पत्तियों का ढेर लग गया है, पर अभी कुछ कमी है, इसी से पत्तियाँ तोड़ने का काम जारी है।

दोपहर का वक्त है। इधर-उधर सन्नाटा छाया है। तालाब के उत्तरी किनारे पर कुछ औरतें और आदमी सीढ़ियों पर नहा रहे हैं और जल भर-भरकर कमासिन देवी के ऊपर चढ़ा रहे हैं। पीपल का घण्टा ठन्न-ठन्न कर धरती और आसमान का माथा ठनका देता है।

तालाब का पानी बिलकुल सोया है। एक भी लहर उसमें नहीं उठती। न किसी मछली के उछलने का ही स्वर सुनाई देता है। मिट्टी के टूटे घड़ों की खपडी फेंक कर बच्चे भी इस समय छुलछुलिया नहीं छुड़ा रहे हैं। सूरज की धूप पानी में प्रकाश भर रही है।

भीठे से नीचे उतरकर बबेरू को जानेवाली सड़क है। इससे दक्खिन चलकर खेत हैं और दूर पर अस्पताल दिखता है। सब तरफ सूना है।

"बस, अब हो गया!" लग्घा जमीन पर रखकर स्वामी ने पत्तियाँ समेट लीं फिर पत्तियों को कन्धे पर रख, लग्घे को हाथ में ले, घर की तरफ चल पड़ा।

उसके मन में तरह तरह की बातें उठने लगीं। मखमजी पाड़ की धोती, मलमल का कुरता, तेल में डूबे काले बाल, कंधे पर हरी पत्तियाँ और हाथ में लग्घी—सब मिलकर जैसे एका-कार हो गए। बकरियों का पेट भरने से ही उसे फुरसत नहीं मिलती। उसके हाथ इसलिए नहीं बने हैं कि बाँस को थामे कल्लाया करें। मा भी क्या हैं। उससे यह भी नहीं होता कि पत्तियाँ ही तोड़ लाया करे। उसे तो अपने पान-तमाखू से फुर-सत नहीं मिलती। उसे बकरियों की क्या परवाह। पीने के लिये उसे कटोरा भर दूध मिल जाया करे, बस। रह गई मोहिनी

उसे मा ने और भी सिर पर चढ़ा रखा है। अगर वह वैसे ही सब काम कर जिया करे जैसे औरों की लड़कियाँ करती हैं तो यह आफत न रहे। ऐसी कामचोरी भी किस काम की। चारों तरफ बुलबुल-सी नाचा करती है। ससुराल में खूब दुतकारी जाती होगी। तभी जान बचाकर यहाँ भाग आई है। यहाँ कहे कौन, मा की दुलारी है। ठीक मा की नकल ही समझो। और पतिया—वह भी तो भाग गई। यह न सोचा कि यहाँ की देख-भाल कौन करेगा। सभी तो लाट साहब हैं ..।"

चलते-चलते स्वामी एकाएक रुक गया। मखमली पाड़ की धोती काँटों में उलझ गई थी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसका मस्तिष्क काँटों में उलझ गया हो। वह झुँझला उठा। फिर धोती को छुड़ाकर आगे बढ़ा। अहीरों के टोला को पार कर अपने घर की तरफ मुड़ गया। मुँह पत्तियों के पीछे छिपा था, पर रास्ता साफ दिखाई पड़ रहा था।

एक गाँववाले ने उसे रास्ता छेककर आश्चर्य से पूछा—"अरे स्वामी भैया, यह क्या ? तुम और यह काम—तुम्हें यह क्या हो गया है ?"

स्वामी ने एक भारी साँस छोड़ते हुये बात टालने के लिये उत्तर दिया—"मैं ही हूँ। पत्तियों को गया था।"

दूसरा पड़ोसी चौपाल पर से बोल उठा—"थक गये होंगे स्वामी। यार, तुमने भी हद कर दी। मारो बकरियों को उधर। राम-राम, तुम भला यह सब क्यों करते हो ?"

तीसरा आदमी सामने से, मानो धरती फाड़कर प्रकट होता हुआ, राम-राम करके बोला—"ज़रा ठहरो तो। लाओ मैं तुम्हारा बोझा रख आऊँ। मुझसे यह न देखा जायगा।"

"पैर में क्या लगेगा, वह तो गले में लग चुका है। मेरे गले पर तो यह फिर हो चुका है। अब इसे क्या रखवाती हो!"

स्वामी की इस बात पर मोहिनी और मा दोनों हँस पड़ीं।

"हँसती हैं...घर में हँसी, बाहर हँसी.. मुझे कहीं चैन नहीं। मन होता है सबको—नहीं, अपने आपको—चटनी की तरह पीस डालूँ!"

"भैया ने अच्छी याद दिलाई, मा! आज आँवले की चटनी बनाऊँगी। खूब स्वाद आवेगा। सब जने खायेंगे।" मोहिनी ने कहा।

"जरूर बनाना। भैया से कह, आँवला में डालने को नमक-मिर्चा तो ले आये!"

"भैया, तुम तो बोलते ही नहीं!"

"मेरा चुप रहना ही ठीक है। दुनिया बोले, तुम बोलो, मैं कुछ न बोलूँगा—नहीं, मैं कुछ नही बोलूँगा! मेरा जब यहाँ कोई नहीं है ....."

स्वामी का यह रूप देख मा कुछ समझ गई। कुछ देर रुक कर बोली—"आज तुझे हो क्या गया है जो..."

मोहिनी ने भी अपनी मा के स्वर में स्वर मिलाकर कहा—"ऐसा न कहो, भैया! तुम भी क्या आदमी हो?"

"मैं ..मै...तुम ठीक कहती हो, मै आदमी नहीं हूँ। मैं तो जानवर हूँ, जानवर। मुझे भी पकड़कर खूँटे से बाँध दो और नीम की पत्तियाँ खाने को डाल दो। खींच-खींचकर कान लम्बे कर देना। यह सब कपड़े-लत्ते भी उतार लो। मैं भी बकरियों की तरह...!"

मोहिनी की मा से अब नहीं रहा गया। तमककर बोली—

"बहुत मुँह चढ़ गया है। दुनिया भर का गुस्सा उतारने के लिए एक हम ही रह गई हैं। यह भी कोई बात है—हम तो मीठे मुँह बोलती हैं और तुम काटे खाते हो!"

"तुम्हारा लड़का हूँ न, इसी से मुँहचढ़ा हूँ। तुम्हें न छेड़ूँ तो किसे छेड़ूँ। मुझे ग़ैर कोंचते हैं, मैं तुम्हें कोंचता हूँ। तुमने मुझे पैदा किया है और तुम्हीं सारी कड़वाहट की जड़ हो। न तुम होतीं, न मैं होता . !"

"हाँ, न मैं होती, न तू होता! नालायक कहीं का! यही सुनना बाकी रहा था सो तूने यह भी आज कह डाला। न जाने कहाँ का कुपूत मेरी कोख में आया। अपने करम को रो जो तुझे यहाँ घसीट लाया। मैंने तुझे इस दुनिया में थोड़े ही बुलाया था। बोलता क्यों नहीं, क्या मुझसे पूछकर यहाँ आया था? पैदा होते हैं आप और दोख देते हैं अपने मा-बाप को!" मा ने जल-भुनकर कहा।

स्वामी कुछ कहने जा रहा था, पर बात ओठों तक आकर रह गई। मा की आँखों की ओर देख, वह सहमकर रह गया।

"देखता है कि नहीं," मा ने लाल-लाल आँखे निकालकर कहा—"अब तेरा इस घर में गुजारा नहीं है। जा, जहाँ तुझे जाना हो। मैं किसी की बात नहीं सह सकती। मैं तेरी लौंडी नहीं हूँ कि तू मुझे गाली दे और मैं चुपचाप पी जाऊँ, कुछ कहूँ नहीं। तूने मुझे आखिर समझ क्या रखा है?"

मोहिनी चुपचाप खड़ी थी। एकाएक वह समझ नहीं सकी कि आज स्वामी और मा को हो क्या गया है? मा-बेटे को जहर में डूबी बातें सुनकर वह स्तब्ध रह गई। उसकी जवानी का चंचल आँचल पतझड़ के पत्ते-सा निष्कम्प हो गया। सबसे

अधिक उलझन हो रही थी उसे स्वामी को लेकर। जिस मा के पेट से उसने जन्म लिया, उसी पर कैसे विषबाण यह छोड़ रहा है। बेटा ही जब मा का नहीं होता तो फिर और कौन...!

(६)

जमना नदी के किनारे लखनपुर गाँव में सिंहवाहिनी देवी का मेला हर साल लगता है। दस-पाँच कोस के इर्द-गिर्द के गाँव के लोग इस मेले में आते हैं, दो-तीन दिन तक ठहरते हैं और सौदा-पाती लेकर, गठरी सिर पर धरे, पैदल या बैलगाड़ी में, अपने-अपने घर वापस चले जाते हैं। मेले में कपड़े, गहने और बिसातखाने की दूकानों की भरमार रहती है। बरतन, मिठाई, चूड़ियाँ वगैरह की दूकाने भी रहती हैं। बिक्री भी खूब होती है।

मेला जमना के कगार के ऊपर लगता है। पेड़ों की छाया काफी रहती है। पानी की तकलीफ नहीं होती। सिंहवाहिनी देवी का मन्दिर बहुत अच्छा नही बना है—किसी कुशल कारीगार ने इसका निर्माण नहीं किया है। इधर-उधर के राजगीरों ने ईंट-चूना के मेल से इसे बना लिया है। देवी की शक्ति उपासकों को खींच ही लाती है। किसी प्रकार की बनावटी सुन्दरता की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सबेरे का समय है। पूरन, उसकी मा और पतिया तीनों जमना में डुबकी लगा, लोटों में जल भर, देवी के मन्दिर की ओर जा रहे हैं। तीनों ने भक्ति-भाव से जल चढ़ा दिया और थोड़ी दूर हटकर वहीं बैठ गये।

पतिया को बड़ा अचरज हुआ जब उसने देवी पर बकरे चढ़ते देखे। ओसारे में खून ही खून। वह इसे सहन न कर

सकी। मा का कंधा झंझोड़कर वह उठ खड़ी हुई। उसके मन में हो रहा था कि वह भागकर यहाँ से कहीं दूर चली जाय।

आसमान और धरती पर धूप पूरी तरह फैल गई। मेले में चहल-पहल अच्छी तरह जग उठी। दूकानदारों ने गोलक सँभाले और सौदा बेचने लगे। ग्राहक पूरे मेले में चक्कर काटने लगे। छोटे-मोटे बच्चे खुश होकर खिलौनेवालों की दूकानों के सामने जमा हो गये और तरह-तरह के रङ्गीन खिलौनों को देखने लगे।

पूरन, पतिया और उसकी मा भी मेला देखने चले। दर्शक इस तरफ से उस तरफ आते-जाते थे। इस समय कुछ खरीदना तो था नहीं, सिर्फ देखना ही देखना था। इसी से वे जहाँ खड़े हो जाते, खड़े ही रह जाते। जहाँ बैठ जाते, बैठे ही रह जाते। पूरी निश्चिन्तता थी। जल्दी किसी बात की न थी। एक जगह बैठकर तीनों ने गुड़ की जलेबी लेकर खाई। पानी पिया। फिर मेले के उस तरफ वे तीनों चले, जहाँ चक्करदार, ऊपर-नीचे, जाने-आनेवाले झूलने गड़े हुए थे। पूरन सवार हुआ। उसकी मा भी झूले में बैठ गई। पर पतिया ने इनकार कर दिया। वह खड़ी-खड़ी देखती रही।

पतिया को जैसे कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। रह-रहकर उसकी आँखों के सामने सिंहवाहिनी देवी का दृश्य घूम जाता था। चारों ओर खून ही खून! उसे यदि पहले से पता होता तो कभी न आती।

झूलों के पास से चलकर तीनों अपने डेरे की तरफ चले। पतिया ने घुटने न टेक दिये होते तो अभी और घूमते। डेरे पर पहुँचकर रोटी बनी। कुछ देर आराम करने के बाद संध्या को फिर मेला घूमने चले। इस वक्त तमाशों की धूम थी। कोई जादू

करता था, कोई हाथ की सफाई दिखाता था। ताशवाले अपना खेल दिखा रहे थे। तीनों यह सब देखते-देखते आखीर में उस जगह पहुँचे जहाँ दो-तीन औरतों का बारी-बारी से एक पंडाल के नीचे नाच हो रहा था। तबला, मँजीरा और सारंगी बज रही थी। आदमियों की भीड़ ठसाठस जमा थी। वाह्-वाह् का स्वर ऊँचा हो रहा था। यह सब देखकर पूरन की आँखों में चमक भर गई। एक लट्ठे से टिककर नाच देखने मे अपने को वह भूल गया। मा बेचारी केवल साज की आवाज सुनती रही। पतिया के हृदय में भी कौतुक ने घर किया। कुछ देर उसने नाच देखा; फिर उसकी आँखे टिक गयीं पूरन पर—लट्ठे से टिका जो अपनी सुध-बुध भूल गया था!

रात को मेला देखकर पतिया जब लौटी तो बहुत देर तक उसे नींद नहीं आई। पूरन और उसकी मा बाते करते-करत सो गए थे। पर पतिया के जी को चैन नहीं पड़ रही थी। करवटें बदलते-बदलते, रात के तीसरे पहर, उसकी आँखे झपक गईं। पर उसका मन अब भी जैसे मेले में ही भटक रहा था। सपने में वह देख रही थी—लट्ठे से टिका पूरन, गुड़िया की तरह सजी-सजाई पतुरियों का नाच, लोगों का पैसे फेकना और उनका, खीसें निपोरते, झुककर पैसों को उठाना, फिर सिंह-वाहिनी देवी—चारों ओर खून ही खून!

एक चीख के साथ पतिया की आँखें खुल गईं। आवाज सुनकर मा ने पूछा—"क्या है पतिया?"

"कुछ नहीं मा," पतिया ने कहा, "सपना देख रही थी।" सोने का आदेश देकर मा फिर घर्राटे भरने लगी। पतिया के हृदय में जाने कैसा डर समा गया था कि प्रयत्न करने पर

भी वह उसे अपने से दूर न कर सकी। अँधेरे में धरती पर पड़े-पड़े वह ऊब चली—इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि रात-भर मेले में ही घूमती रहती। बड़ी बेचैनी से वह सुबह होने की प्रतीक्षा करने लगी।

दूसरे दिन अँधेरे मुँह पतिया ने सबको जगा दिया। मा बड़बड़ाती हुई उठ बैठी। पतिया ने कहा—"मेला देखने के लिए यहाँ आई हो। चलो उठो, आज दिन-भर घूमेंगे।"

पतिया की बात सुनकर मा को बड़ा अचरज हुआ। उसकी समझ में न आया कि यह कैसी लडकी है। कहाँ तो मेले से दूर भागने को कहती थी और कहाँ अब खुद ही उतावली हो रही है।

मेला में उस समय तक अधिक भीड़ नहीं हुई थी। तीनों निर्द्वन्द्व होकर दूकान-दूकान फिरने लगे। पूरन ने कुछ पहनने के कपड़े खरीदे। मा ने चूड़ियाँ, सेंदुर, कंघी और कुछ चीजें खरीदीं। पतिया से मा ने कुछ खरीदने को कहा। उसने कहा—"रहने दो. मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिए!"

खिलौनों की दूकान के सामने पहुँचने पर मा ने पतिया से फिर कहा—"कुछ खिलौने ही खरीद ले। तू तो न जाने कैसी है!"

पतिया ने जवाब दिया—"कोई अच्छा खिलौना मिले तब तो खरीदूँ। मुझे राम-सीता की जोड़ी अच्छी नहीं लगती जो उसे खरीद लूँ और न वे मूँछें एंठे सिपाही ही जो बन्दूक कंधे पर रखे हैं। मैं यह नहीं खरीदती।"

दूकानदार बोला—"तू इधर आ। देख, क्या खरीदेगी?"

पतिया जरा अन्दर बढ़कर खिलौनों को देखने और छाँटने

लगी। दस खिलौनों के बीच एक गुजरिया मुँह खोले चरखा चला रही थी। दीन दुनिया से बेखबर सूत कातने में लगी थी—मानों अपनी तकदीर का तार निकाल रही है।

संकेत पाकर दूकानदार ने गुजरिया उठाकर पतिया को दे दी। पतिया ने कहा—"क्या एक ही खिलौना दोगे? मैं दूसरा एक और खरीदूँगी। जरा देख लेने दो। बताती हूँ।"

इधर-उधर आँखे घुमाने के बाद एक खिलौना पर उसकी नजर टिक गई। वह बोली—"दूकानदार, वह दो।"

दूकानदार ने समझा कि सूत कातती औरत खरीदी है तो दूसरा झण्डा लिये वीर जवाहर खरीदने को कहती है। इसी से मिट्टी के वीर जवाहर देने लगा।

पतिया गुर्रा उठी—"यह नहीं। मैं उसे कहती हूँ जो तिरछी टोपी सिर पर धरे सिगरेट पी रहा है। बड़ा अच्छा लगता है। इसे जरूर खरीदूँगी।"

पतिया की पसन्द पर मा मन ही मन कुढ़ रही थी। पूरन भी खीझ-सा उठा था। पर उसने कुछ कहा नहीं। चुपचाप दोनों खिलौनों के दाम उसने दे दिये और तीनों मेले की दूसरी तरफ बढ़े।

कई रोज बाद पतिया के मुँह पर कुछ खुशी दिखाई पड़ी थी। पूरन और उसकी मा ने समझा कि चलो, मेला आना स्वारथ हुआ। पतिया को भी मेला से अब और कुछ लेना नहीं रह गया था। उसने कहा—"मा, अब चलोगी न? पूरन भैया, चलो, अब घर लौट चलें। शाम ही तो है। दो तीन घण्टे में घर पहुँच जायँगे।"

मा न कहा—"पूरन, तू कुछ खा-पी ले और पतिया तू भी।

तब फिर लौट चलें। कोई और काम तो है नहीं। तेरे दादा राह देखते होंगे।"

तीनों जिस राह होकर मेले आये थे, उसी से घर लौट गये। पूरन के सर पर गठरी, मा के सर पर गठरी और पतिया के दोनों हाथों में दो खिलौने थे!

(७)

घर पहुँचकर दूसरे ही दिन पतिया ने अपनी सहेलियों को अपने घर बुलाया। मँझली और बड़ी में से सिर्फ मँझली ही आई थी। बडी अपने पति के यहाँ दो रोज पहले ही चली गई थी। पतिया से उसकी भेंट न हो सकी, इसका उसे रंज था, मँझली कहती थी।

दोपहर के वक्त घर की अँगनई में पतिया अपने दोनों खिलौनों को लेकर बैठी। मँझली उसके खिलौनों को देख-देखकर खूब हँस रही थी।

"मुझे मेले में बहुत बुरा लग रहा था। वहाँ कुछ अच्छा ही न था।" पतिया ने कहा।

"तुझे न मेला अच्छा लगे, न ससुराल अच्छा लगे। न जाने कैसी है?" मँझली ने कहा।

"देख तो, यह सूत कातती औरत कैसी भली है। अपने काम में लगी है। न दुनिया की फिकर, न किसी की। और जरा इसे तो देख, कैसा छैलचिकनिया बना खड़ा है। तुझे पसन्द है न?" पतिया ने पूछा।

"मुझे क्यों न पसन्द आयेगा। मेरे 'वह' ठीक ऐसे ही हैं जैसे ये खड़े हैं!" ठिठोली से मँझली ने कहा और पतिया का मुँह देखने लगी।

बात कुछ भेद-भरी थी। सुनकर पतिया कुछ सोच में पड़ गई। फिर बोली—"तेरे न सही, पर मेरे तो हैं। इसी से ख़रीद लाई हूँ कि तुझे भी दिखा दूँ। बड़े सुन्दर हैं न!"

"पर इसके साथ उस औरत का क्या मेल? तूने भी बे मेल सौदा किया?" मँझली ने कहा।

"मेल-बेमेल मैं नहीं जानती। एक ही दूकान से तो मैं इन्हें लाई हूँ। तू बड़ी सयानी निकली। जानती है, मैं इन दोनों का क्या करूँगी? देख, इस औरत को तो उस आले में और इस मर्दुवे को चूल्हे के ऊपरवाले ताख पर रख दूँगी। इसके मुँह पर ख़ूब धुआँ लगेगा। बड़ा छैलचिकनिया बना हुआ है!"

"बड़ी नाराज है तू इससे। तेरा इसने क्या बिगाड़ा है? बेचारा चुपचाप खड़ा अपनी मूँछें मरोड़ रहा है। अगर हाथ-पाँव हिलाता होता, इसमें कुछ जान होती तो तेरी चमड़ी उधेड़ देता और तुझे गरम तवे पर बिठाकर मछली की तरह भूनता। समझी, बहुत बातें न किया कर!"

"बड़ा आया चमड़ी उधेड़ने वाला। अभी पटक दूँ तो चूर-चूर हो जाये!" पतिया ने कहा।

मँझली कुछ कहने जा रही थी कि पतिया के बाप ने तमाखू माँगी। पतिया चिलम भरने चली गई। उसके जाने के बाद मा आ गई। पतिया की मा और मँझली में बातें होने लगीं।

"माई, तुम सब मेले हो आईं। मुझे अपने साथ न लिवा ले गईं?"

'हाँ बिटिया, हम मेले हो आईं। तू चली नहीं। मेला बड़ा अच्छा था।"

"पतिया तो कहती है, मेला बड़ा ख़राब था।"

"अरे, वह तो निरी पागल है। उसकी भली चलाई। उसे दुनिया में कुछ अच्छा भी लगता है।"

"पागल नहीं है। बाते तो ऐसी गढ़ती है, जैसे चालीस से कम की न हो!"

"उसकी खरीदारी नहीं देखो! दूकानदार तक हँसता था। सारे मेले में इन्हीं दो खिलौनों को पसन्द करके उसने मोल लिया।"

"माई, मैं तो समझी थी कि प तया ने इसे तुम्हारे मन से खरीदा है और औरत अपने मन से। तभी तो इसे पटककर चूर-चूर कर देने को कहती थी।"

"मै तो बाहर खड़ी रही। दूकान के भीतर तक नहीं गई। उसी ने दोनों खरीदे हैं।"

"अच्छा...।"

इतने में पतिया भी आ गई। मा ने कहा—"क्यों, तू इसे पटक देना चाहती है क्या?"

"हाँ...नहीं।"

"मा से डरती है, इसी से हाँ—नहीं दोनों कहती है।"

"मेरी बिटिया के कुछ अक्किल नहीं है। बड़ी सीधो है।" मा ने कहा।

"नहीं माई, समझ तो इसमें बहुत है। सूत कातती औरत इसे बहुत पसंद है। सो उसे मँगवाकर रखेगी आले में और यह जो मर्दवा है, उसे चूल्हे के ऊपर, धुँआँधानी में रखने को कहती है।"

"यही तो इसमें पागलपन है, मा ने कहा, "दोनों खिलौनों को एक ताख पर सजाकर रखना चाहिए। लेकिन यह है कि..."

"मैं तो रख दूँगी। पर यह औरत वहाँ नहीं रहना चाहती?"

"तुझे क्या मालूम ? रखकर तो देख। यह वहाँ से टस-से-मस न होगा।"

"वह नहीं रहने कहती। कहती है, मुझे मेले भेज दो। मैं यहाँ न रहूँगी।"

"मैं बहरी तो हूँ नहीं। मुझे तो कुछ सुनाई नहीं देता। बिटिया, देखती है न पतिया की बाते।" मँझली की ओर मुँह करते हुए मा ने कहा।

"यह देखो मा, मैंने तो दोनों को एक जगह रख दिया था, लेकिन यह दौड़कर मेरे साथ चली आई।"

"आ गई—तू ही तो इसे उठा लाई है !"

"क्या करती ? मुझसे गिड़गिडाने लगी, मै ले आई।"

"माई, इससे पूछो तो भला कि वह बेचारा वहाँ अकेला क्या करेगा ?" मँझली ने कहा।

"वह जब तक जी में आवेगा, वहीं रहेगा और जब मन न लगेगा, तब चम्पत हो जायगा।" पतिया ने जवाब दिया।

"और यह औरत क्या करेगी ? क्या अकेले अपने करम को रोया करेगी ?" मा ने चिढ़कर कहा।

'नहीं मा, बैठे-बैठे खूब सूत काता करेगी और.. !"

पतिया की यह बात सुनकर मँझली हँस पड़ी। पतिया को यह बहुत बुरा लगा।

एकाएक उस छैलचिकनिया को मँझली के मूँह के आगे कर कहने लगी—"ले, इसे तू अपने घर ले जा। तेरी हँसी की यह खूब क़द्र करेगा !"

(८)

मोहिनी की मा को कई दिनों से ज्वर आ रहा है। कुछ

कमजोर होकर पीली पड़ गई है। उसकी देख-रेख करनेवाला घर में कोई नहीं है। मोहिनी है, पर उसका होना न होना बराबर है। एक बात यह भी है कि मा खुद उसे अपनी चिन्ता में नहीं डालना चाहती। चारपाई पर पड़ी रहती है और जैसे-तैसे उठ-बैठकर पानी पी लेती है। मोहिनी से कुछ नहीं कहती। घर में और दूसरा कोई प्राणी है नहीं। स्वामी और नरायन दोनों लड़के घर छोड़कर न जाने कहाँ चले गए हैं। सूने घर में सिवा मोहिनी की चमक-दमक और बकरियों के और कुछ नहीं रहा है।

केवल बुखार की तकलीफ होती तो मोहिनी की मा विचलित न होती, पर उसे तो हर तरह की तकलीफों ने चारों तरफ़ से घेर लिया है। घर में अब पानी तक नहीं आता। थोड़ा बहुत खींच कर मोहिनी लाती भी है तो वह उसी के ऊपर चढ़ जाता है। मा को पीने के लिए भी मुश्किल से मिलता है। आटा-दाल, तेल-नमक, लकड़ी—सब का अकाल पड़ गया है। बकरियों की भूख अलग घर में ऊधम मचाये रहती है। पत्तियाँ तोड़कर लानेवाला कोई नहीं। बीमार पड़ने से पहले वह ही लग्घा से तोड़ लाती थी, पर जब से खाट पर पड़ी है, मोहिनी क़सम खाने को तो ज़रूर तोड़ लाती है, वरना वह कुछ फिकर नहीं रखती। दिये में तेल तक नहीं पड़ता। घर में अँधेरा रहता है। झाड़ू नहीं लगती। बरतन वैसे ही पड़े रहते, मोहिनी को जैसे अपने हाथों के घिसने का डर रहता है। दो-दो तीन-तीन बार जले हुए बरतन चूल्हे पर फिर-फिरकर चढ़ते रहते हैं।

घर की हालत देखकर मोहिनी की मा कभी-कभी बहुत ज्यादा घबड़ा उठती है। न मालूम क्यों, वह मोहिनी से कुछ

कहना-सुनना नहीं चाहती। शायद उसे डर है कि सबने तो छोड़ ही दिया है, कहीं यह भी घर छोड़कर कहीं निकल न जाय।

रह-रहकर मोहिनी की मा को अपनी बहू पतिया की याद आती है। सोचती है कि किसी तरह उसे बुला ले। वह आ जायेगी तो घर बुहारेगी, पानी लायेगी, बरतन साफ रखेगी, खाना पकायेगी, बकरियों के लिए पत्तियाँ तोड लायेगी—और कुछ नहीं तो कम से कम घर में उजाला तो करेगी.. !

पतिया की याद इस तरह पहली बार मोहिनी की मा के हृदय में उभरी थी। उसके भीतर का मन जैसे कह रहा था कि जो भी हो, पतिया आयेगी जरूर। पतिया ऐसी नहीं कि रूठ कर अपना घर ही छोड़ दे। जैसे एक दिन यहाँ से चुपचाप खिसक गई थी, वैसे ही अपने मायके से एक दिन आ भी जाएगी !

घर में और कोई नहीं था। मोहिनी की मा अकेली बिस्तरे पर लेटी थी। पतिया के बारे में सोचते-सोचते उसे कुछ ऐसा लगने लगा मानो पतिया सचमुच आनेवाली हो। आँख बन्द कर निराला भाव से वह पड़ रही और पतिया के पाँवों की आहट सुनने की प्रतीक्षा करने लगी।

तीसरे पहर के वक्त मोहिनी अपने आँचल में लाई के लड्डू लेकर घर आई। आहट सुनकर मा ने पूछा—"कौन...?"

"कोई नहीं," मोहिनी ने ठिठककर उत्तर दिया—"मैं हूँ, मा !"

मा ने कुछ नहीं कहा। आँखें बन्द किये ही करवट बदलकर दूसरी ओर मुँह कर लिया। मोहिनी कुछ क्षण चुपचाप ठिठकी खड़ी रही। फिर बोली—"मै तो अपने लिये कुछ नहीं बनाऊँगी, मा ! तुम अगर कहो तो तुम्हारे लिये..."

मोहिनी की मा ने कहा—"मैं कुछ न खाऊँगी। पर मेरे पीछे तू कब तक भूखी रहेगी। अपने लिये तू कुछ बना ले तो अच्छा करे।"

"अपने लिये मैं कुछ न बनाऊँगी। मुझे भूख नहीं है।" कहते हुए मोहिनी मा की खाट के पास धम्म से बैठ गई।

"मा, आज तुम बहुत उदास दीख रही हो!" मोहिनी ने प्यार जताते हुए पूछा।

"नहीं तो बेटी!" इतना ही कहकर वह चुप हो गई।

"मालूम होता है, तुम मुझसे नाराज हो। मैं तुम्हारा कुछ काम नहीं करती, दिन भर इधर-उधर घूमा करती हूँ, इसीलिए।"

"तू नाहक ऐसा सोचती है। मैंने तो तुझे आज तक कुछ नहीं कहा।"

"मा, क्या तुम्हें मेरा यह ढङ्ग बुरा नहीं लगता? मै घर में बहुत कम रहती हूँ और ज्यादातर बाहर ही......"

"लड़की है तू। मैं भी तेरी उमर में ऐसी ही थी, बल्कि तुझसे भी कहीं ज्यादा। इस उमर में सभी खूब खेलते-कूदते हैं। पर मैं सोचती हूँ .."

"हाँ मा, सोचती तो मैं भी हूँ। पर यह उमर ही कुछ ऐसी है कि जितना सोचो उतना ....."

मोहिनी की बात सुनकर मा एकटक उसके चेहरे की ओर देखने लगी। मोहिनी मा की दृष्टि का सामना नहीं कर सकी। बात बदल कर उसने कहा—"पानी पीओगी मा। लाओ, मैं सर दबा दूँ। दर्द कर रहा होगा।"

कुछ कहने से पूर्व ही मोहिनी ने मा का सिर दबाना शुरू कर दिया। मा ने कोई विरोध नहीं किया। चुपचाप उसी तरह पड़ी रही।

फिर एकाएक मोहिनी के हाथ को अपने दोनों हाथ में लेकर कुछ क्षण देखती रही—मानो मोहिनी की भाग्यरेखा देख रही हो !

"क्या देख रही हो मा ?" मोहिनी ने अपने हाथ को मा के हाथों से छुड़ाते हुए कहा।

मा की आँख मोहिनी के चेहरे पर पड़ीं, सारे शरीर पर पड़ीं और फिर चेहरे पर एकटक टिकी रह गईं। शायद इस तरह आज तक मा ने मोहिनी को न देखा था। यह पहला ही अवसर था जब मोहिनी के रूप पर मा की आँखें इस तरह अटक कर रह गई थीं। बड़ी-बड़ी आँख, नुकीली भौहे, गालों और ओठों की ताजगी, गरम-गरम साँस—देखकर मोहिनी की मा का हृदय काँप उठा।

मोहिनी का हाथ मा के हृदय पर रखा हुआ था। मा का हृदय बुरी तरह धड़क रहा था। उसने पूछा—"मा, तुम्हे हो क्या गया है ? तुम्हारा दिल तो बड़ी जोर से धड़क रहा है—साँस भी जोर-जोर से चल रही है।"

"जरा इधर आ, बेटी !" मा ने कहा और मोहिनी को अपनी दोनों बाँहों में कसकर हृदय से लगा लिया। मा ने हाथों से मोहिनी को कसकर जकड़ लिया था—मानों मा को डर था कि यदि जरा भी ढील रह गई तो मोहिनी भी हाथ से निकल जायगी।

मोहिनी घबरा उठी। मा ने अपनी बाँहों में उसे इस तरह कस लिया था कि उसका दम घुटने लगा। जसे-तैसे अपने को छुड़ाते हुए मोहिनी ने कहा—"तुम्हें हो क्या गया है मा जो..."

मोहिनी अपना वाक्य पूरा न कर सकी। आँसुओं से भरी

मा की आँखें देखकर वह चुप हो गई और सिरहाने बैठ, चुपचाप, मा के उलझे हुए बालों को अपनी उंगलियों से सुलझाने लगी।

(६)

मोहिनी शीशा सामने रखे कंघी से अपने बाल सँवार रही है। कमर तक लम्बे, काले-काले, छल्लेदार बाल चले गये हैं। बिलकुल नागिन जैसे लगते हैं। तिल्ली के तेल की चिकनाई बालों में धार पैदा कर रही है। अभी उस दिन मा के उलझे बालों में उंगलियाँ फेरते-फेरते वह अनायास ही चौंक उठी थी। उसे ऐसा लगा था मानो किसी अंगारे पर उसका पाँव पड़ गया हो—या फिर कोई अनहोनी बात हो गई हो। तभी मा ने उससे पूछा था—"क्या है, बेटी ?"

"कुछ नहीं मा," कुछ क्षण रुककर तथा एक झटके के साथ मा के सफेद बाल को तोड़ते हुए मोहिनी ने कहा था—"सफेद बाल था, मा। मैंने तोड़ दिया !"

कमर तक लम्बे काले-काले बालों की एक लट को हाथ में लिए मोहिनी बड़े ध्यान से उसे देख रही है। देखते-देखते वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी फिर बोली—"मा तो पगली है। उसने अपने को कहीं का न रखा। लेकिन मैं......!"

मोहिनी ने शीशा अपने हाथ में उठा लिया। अपने रूप को देखकर वह स्वयं ही मुग्ध हो उठी। अपनी छबि को सम्बोधित कर वह कहने लगी—"मैं सुन्दर हूँ। मुझे डर किसका है! मैं जो चाहूँ करूँ। मैं सिंगार न करूँ तो और कौन करेगा। अभी इन घने बालों को चिकना कर जूड़ा बाँधूँगी, माँग में सेंदुर भरूँगी, मुँह में तनिक चिकना लगाकर आँखों में काजल की धार और माथे पर बिन्दी अरे, फिर देखना ...!

"मैं अपने मुह मियामिट्ठू नहीं बनती। मुझे कौन नहीं चाहता। जिसे देखो, मेरे लिए व्याकुल दिखता है। मैं जिस ओर से निकल जाती हूँ, न-जाने कहाँ-कहाँ के छोकरे मेरे आसरे में ताकते मिलते हैं। आवारा कहीं के! मंदिर में देवी को जल चढ़ाने जाती हूँ तो वहाँ भी पहुँच जाते है। दूकान सौदा लेने जाती हूँ तो दूकानवाले का लड़का ताक में रहता है। तालाब मे नहाने जाती हूँ तो लोग वहीं पर मँड़राया करते हैं, कुएँ पर जाती हूँ तो चौपालों से लोग इशारा करते हैं!

मोहिनी को बीते दिनों की याद हो आई जब वह छोटी-सी थी। पिता पड़े-पड़े चारपाई तोड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते थे। घर में कुछ हो, उन्हें कोई फिक्र नहीं थी। न उन्हें मा की परवाह थी, न बेटे-बेटियों की। मा जब अकेली होती थीं तो बहुत खुश रहती थीं। सदा कोई न कोई गीत गुनगुनाती रहती थीं। किन्तु अपने बच्चों को देखते ही वह सब कुछ भूल जाती थीं। उनकी खुशी न जाने कहाँ गायब हो जाती थी और जरा-जरा सी बात पर नाराज हो जाती थीं।

मोहिनी और स्वामी को उन दिनों वह पीटती भी खूब थीं। एक दिन की बात है। मा कंघी-चोटी कर रही थी। सिंगार करते समय वह किसी को अपने पास नहीं फटकने देती थीं। मा को देखकर मोहिनी और स्वामी के हृदय में यह इच्छा होती थी कि वे भी बन-सँवर कर रहें। मा उनका भी अपनी तरह बनाव-सिंगार करें। किन्तु मा उनकी ओर ध्यान नहीं देती थीं। उन्हें अपने पास तक नहीं आने देती थीं। दोनों दूर खड़े देखा करते और यह मनाया करते कि मा जल्दी से सिंगार कर घर से बाहर निकल जायें। मा के बाहर चले जाने पर दोनों उसके

कपड़ों तथा सिंगार की सामग्री के साथ मनमानी किया करते थे।

उस दिन मा ने दोनों को पकड़ लिया और बुरी तरह मारा। मा जल्दी ही घर लौट आई थी। मोहिनी उस समय स्वामी का सिंगार कर रही थी। उसे मा की साडी पहनाई गई थी, उसके बिंदी लगाई गई थी। मा ने देखा तो आगबगूला हो गई। उन्हें खूब मारा। रोते-रोते दोनों गये अपने पिता के पास। रोते जाते थे और कहते जाते थे—"इस मा को तुम घर से निकाल दो। दूसरी मा ले आओ। इसके साथ हम नहीं रहेंगे!"

पिता ने कुछ नहीं कहा। गोदी में बिठाकर उन्हें पुचकारा तक नहीं। बस, हा-हा हा करके हँसने लगे। फिर बोले—"मा को निकाल दो, खैर इसकी मनाओ कि वह हमें घर से बाहर नहीं निकाल देती ..जाओ, चले जाओ यहाँ से!" इसके बाद वह फिर हा-हा-हा कर हँसने लगे।

मोहिनी और स्वामी दोनों पिता के पास से चले आये। उन्हें अब विश्वास हो गया था कि पिता उनके लिए कुछ न करेंगे। मा उन्हें पीटती थी और वे पिटकर रह जाते थे। न मा उन्हें पीटना बन्द करती थी और न वे ही अपना रवैया बदलते थे। हाँ एक बात अवश्य हुई थी। वह यह कि अब मोहिनी स्वामी का सिंगार नहीं करती थी। स्वामी को अब वह बाहर खड़ा कर देती थी और स्वयं अपना सिंगार करती थी। स्वामी का काम यह होता था कि वह देखता रहे, कोई आ तो नहीं रहा है!

स्वामी को यह अच्छा नहीं लगता था कि मोहिनी सिर्फ

अपना ही बनाव-सिंगार करती रहे। दूर खड़ा-खड़ा वह मोहिनी पर झुँझलाया करता। कभी-कभी तो उसके मन में होता कि मोहिनी का सारा सिंगार नोच डाले। यह भावना उसमे दिन-दिन जोर पकड़ने लगी। जब नहीं रहा जाता तो मोहिनी पर झपट पड़ता था। एक दिन तो वह इस बुरी तरह झपटा कि मोहिनी नंगी खड़ी रह गई। मोहिनी सकपका गई थी पर स्वामी पर इसका कोई असर न पड़ा। वह दूर खड़ा हँसता रहा—ठीक अपने पिता की तरह—हा-हा-हा !

स्वामी और मोहिनी का विरोध दिन-दिन बढ़ने लगा। मोहिनी उसका सिंगार करना चाहती तो भी वह उसकी बात नहीं मानता था। उल्टी आदत उसे पड़ती जा रही थी। छिपकर वह देखता रहता कि मोहिनी सिंगार कर रही है। जब सिंगार कर चुकती तो झपट पड़ता। मोहिनी का सिंगार उसे फूटी आँखों नहीं सुहाता था। यह बात प्रबल रूप में उसके हृदय में घर करती जा रही थी। एक मोहिनी ही नहीं, कपड़ों से लदी-फँदी उसे कोई भी स्त्री नहीं सुहाती थी। जब कभी वह किसी स्त्री को देखता था तो यही उसके मन में होता था कि उसके कपड़ों को नोचकर फाड़ डाले और उसे नंगा-बूचा कर कहीं दूर जगल में छोड़ आये !

मोहिनी को अच्छी तरह याद है। मा ने जबर्दस्ती स्वामी का ब्याह कर दिया था। पतिया को लेकर जब वह घर आया तो उसके साथ भी उसने ऐसा ही किया था। बहका-फुसलाकर स्वयं मोहिनी ने पतिया को अपने साथ ले जाकर स्वामी के कोठे में बन्द कर दिया था। मोहिनी चुपचाप दराज में से देखती रही। कोई बात न चीत, स्वामी पतिया पर गीध की

तरह झपटा और उसके कपड़े नोच डाले। स्वयं मोहिनी चीख मारते-मारते रह गई। उस दृश्य को न सह सकने के कारण उसने अपनी आँख बंद कर ली। पतिया के तो जैसे होश ही गायब हो गये। उस दिन जो पतिया के हृदय में स्वामी के प्रति घृणा उपजी सो फिर कभी न मिटी। मोहिनी से भी कई दिन तक पतिया नहीं बोली। उसे सन्देह हो गया था कि अपने भाई स्वामी से मिलकर ही मोहिनी ने उसकी यह गत करवाई है। इन दोनों में मिली-भगत है।

'मिली-भगत !'' मोहिनी ने खड़े होते हुए कहा, "अच्छा हुआ जो स्वामी यहाँ से चला गया। हम भी देखना है, कौन तीसमारखाँ बनकर वह अब घर लौटता है।"

मोहिनी का सिंगार पूरा हो गया था। एक बार फिर शीशे में उसने अपना मुँह देखा और गर्व से भर उठी। इसके बाद अपनी धोती और चोली ठीक कर वह मा के पास पहुँची—"जरा बाहर जाती हूँ। आ जाऊँगी साँझ तक।"

घर से निकलकर मोहिनी थोड़ी दूर ही गई होगी कि एक ब्राह्मण के छोटे बच्चे को जबर्दस्ती पकड़कर उसके घर ले गई और दरवाजे से अन्दर घुसते हुए कहने लगी—"अरे, यह जमना बडा बदमाश है। राह चलते ढेला मारता है। मर तो धोती में लगा। जरा-सा और ऊपर करके मारा होता तो कमर में या पीठ में चिपक रहता!"

वह इतना कह पाई होगी कि एक बीस-इक्कीस साल का खूबसूरत नौजवान उसके सामने आकर खड़ा हो गया। उसने जमना को पकड़ लिया। मोहिनी को सुनाते हुए उसने कहा—"क्यों रे बेवकूफ, इस तरह कोई ढेला मारता है। अब ऐसा न

करना। इसे तो फूल की मार की आदत है। क्यों कहीं चोट तो नहीं लगी ?"

मोहिनी जल्दी से वहाँ से निकलकर दूसरी ओर बढ़ गई। रास्ते में एक घर में अपनी बकरी ढूँढ़ने के बहाने घुस गई। इत्तिफाक से उस समय घर में औरत न थी। छत्री युवक आँगन में खाट पर पड़ा धूप खा रहा था।

"यहाँ मेरी बकरी आई है ?" मोहिनी ने कहा और आँगन में पहुँच गई।

युवक ने हाथ पकड़कर कहा—"हाँ आई है। उसे कोठे में मैंने बन्द कर रखा है। मेरा अनाज खा गई थी। अपनी बकरी को तुम बाँधकर नहीं रखतीं !"

"तो क्या मुझे भी बकरी के साथ-साथ बाँधकर रखने का इरादा है। मेरा हाथ छोड़ दो। मै बकरी नहीं हूँ—मैं हूँ मोहिनी !" ऊपरी गुस्से से मोहिनी बोली।

"पहले यह तो बताओ कि तुम मेरे घर में बिना पूछे घुस कैसे आई ? तुम्हें भी बकरी की तरह कोठे में........"

"बड़े आये बकरी की तरह बाँधनेवाले हाथों में दम भी है !" मोहिनी ने कहा और एक झटके के साथ अपना हाथ छुड़ाकर घर से बाहर हो गई। वह युवक देखता ही रह गया।

(१०)

लखनपुर के मेले को हुए छः महीने बीत गये। पतिया अब भी अपने मायके में बनी है। ससुराल से अभी तक कोई बुलावा नहीं आया। स्वयं पतिया को इसकी कोई परवाह नहीं है। वह तो वहाँ से भाग ही आई थी। अगर उसका मन वहाँ लगता तो वहीं बनी रहती। पर, उसकी मा को अवश्य कुछ-कुछ चिन्ता

सताने लगी है। अकसर उसके मन में तरह-तरह की शंकायें आतीं और उसे घबड़ाकर चली जाती हैं।

पतिया का हृदय समझ कर भी मा उसे कभी न समझ पाई। पतिया ने जब जन्म लिया था तो वह बिलकुल ऐसी थी मानो चुहिया। गोदी उठाते समय भी डर लगता था कि कहीं इसके प्राण न निकल जायँ। किसी को इसकी आशा नहीं थी कि वह जियेगी। मा उसे जब देखती थी तो उसका हृदय ठक्-ठक् करके रह जाता था। एक खटका-सा मा के हृदय में बैठ गया था जो हर समय उसे इस बात की याद दिलाता रहता था कि पतिया जियेगी नही। ठण्डी साँस छोड़ते हुए वह सोचती— "इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि पतिया जन्म ही न लेती!"

पर पतिया मरी नहीं। मा उसके जीवट को देखकर दंग रह गई। कहाँ तो मा रोज पतिया के मरने की बाट देखती थी और कहाँ अब। उसे कुछ ऐसा विश्वास हो चला कि चाहे जो हो, पतिया कभी मरेगी नही। पतिया पर अब जब कभी वह गुस्सा होती तो झुँझलाकर कहती—"अच्छा होता, अगर यह पहले ही मर जाती ..पर यह काहे को मरने लगी...यह तो हम सबको मार कर मरेगी...!"

गुस्सा उतर जाने पर उतने ही वेग से वह पतिया को प्यार भी करती। पतिया मरेगी नहीं—राम न करे वह कभी मरे— किन्तु एक बात उसमे अब भी बाकी थी। उसने जब जन्म लिया था तो बिलकुल ऐसे लगती थी मानो चुहिया हो। पतिया का यह चुहियापन अभी तक बना हुआ था। उमर उसकी सयानी हो चली थी, पर बदन की गठन छुटपन जाहिर करती थी। रह-

रहकर मा सोचती थी—"लड़की को जात। ब्याह होगा तो भला क्या कहेगा इसका पति चुहिया-सी बहू को देखकर...!"

मा की कुछ समझ में नहीं आता था कि पतिया कैसी लड़की है जो उमर इसकी बढ़ती जाती है, मगर बदन इसका फिर भी नहीं पनपता। खुद भूखी रहकर भी वह पतिया के खाने-पहनने की जुगत लगाती। पतिया को अपने पास बुलाकर उसके शरीर पर हाथ फेर-फेरकर इस बात की टोह लगाने का प्रयत्न करती कि कहीं कोई उभार-चढ़ाव दिखाई पड़े। मा पतिया को खूब भरी-पूरी देखना चाहती थी।

पतिया को यह सब जरा भी अच्छा नहीं लगता। मा उसमें जितना अधिक उभार देखना चाहती, उतना ही पतिया मा के सामने पहुँचने पर सिकुड़ जाती। उसका बस चलता तो वह अपने रहे-सहे अधकचरे शरीर को भी लोप कर देती। मा की दृष्टि से छिपा कर वह अपने शरीर को रखना चाहती। खाने-पहनने की ओर भी पतिया की रुचि न रही। वह तो बस मशीन की तरह सदा काम में जुटी रहती।

एक दिन की बात है। अलग खड़ी मा बहुत देर तक पतिया को देखती रहती। जब नहीं रहा गया तो बोली—"तू भले ही खत्म हो जाये पतिया, पर तेरा काम कभी नहीं खत्म होगा। मैं कहती हूँ, अपने तन का भी कुछ ध्यान रखा कर...!"

पतिया सब कुछ करती थी, पर अपने तन का ध्यान नहीं रखती थी। उसे बड़ा बुरा लगता था जब कोई तन की ओर ध्यान देने की बात उससे कहता था या उसके तन की ओर ध्यान देना शुरू करता था।

"तुम भी अजीब बात करती हो, मा!" पतिया अपनी झुँझ-

लाहट को दबाने का प्रयत्न करते हुए कहती—"काम भी न करूँगी तो फिर और क्या होगा इस मुवे तन का!"

इसी तरह दिन बीतते गये। अन्त में काँपते हृदय से मा ने पतिया का विवाह किया और इसके बाद अपने ससुराल से भागकर जब पतिया आई तो काँपते हृदय से उसका स्वागत किया। अपने मन को समझाने के लिए मा ने सोचा कि पतिया वैसे ही चली आई है। एक-आध महीने रहकर लौट जायगी। किन्तु छः महीने बीतने के बाद भी जब पतिया न तो स्वयं गई और न उसे कोई लिवाने आया तो मा का हृदय फिर आशंकाओं से भरने लगा। सब कुछ समझकर भी मा कुछ नहीं समझ पाती थी। इसके अलावा पतिया की अनोखी बात भी मा को अचरज में डाले रहती थीं। उसका खिलौनों का खरीदना, फिर उन्हें अलग-अलग रखना, अज्ञात आशंका से रह-रहकर मा का हृदय काँप उठता था!

(११)

पतिया अपने काम में जुटी थी। पास ही बैठी मा पतिया के बारे में तरह-तरह की बातें सोच रही थी। तभी पूरन ने आकर कहा—"मा, आज खेत ताकने तुम दोनो चली जाना। मैं न जाऊँगा।"

मा बोली—बड़ी अच्छी बात है। हम चली जायेंगी। तू रात को घर पर ही सोना। बुढ़ऊ भी तो यहीं रहेंगे।"

पतिया बोली—"क्या कहीं नौटंकी है, भैया?"

पूरन ने जवाब दिया—"नहीं तो। यों ही तबीअत नहीं करती। क्यों, तुझे वहाँ जाते डर लगता है क्या?"

"डर...मैं किसी से नहीं डरती। घर हो चाहे खेत-खलि-

द्वान—कहीं भी मुझे डर नहीं लगता। मैं खूब मजे से मचान पर चढ़कर खर्राटे मार कर सोऊँगी। मुझे जैसे यहाँ, तैसे वहाँ।' पतिया ने निडर होकर कहा।

मा ने कहा—"पतिया, थोड़ी देर बाद चलूँगी। तब तक सबको खिला-पिला दूँ। सूरज डूबने से पहले ही खेत पहुँच जायँगे। नहीं तो रात को अँधेरे में रास्ता न सूझेगा।"

पूरन बोला—"अभी हम लोग न खायेंगे। तुम खा-पी लो। मैं दादा को खिला दूँगा और खुद भी खा लूँगा। डिब्बी में तेल तो है न?"

पतिया दौड़कर अरेल तक गई और डिब्बी को उठाकर बोली—"हाँ, है तो। आज भर चल जायगा।"

× × ×

गाँव से एक मील के फासले पर कई खेत हैं। वहीं पर सात-आठ बीघे का एक खेत पूरन का है। रात का समय है। अँधियारी चारों तरफ घेरा डाले पड़ी है। कोई बोल नहीं सुनाई पड़ता। सब ओर सुनसान सायँ-सायँ करता है। अपने-अपने खेतों पर किसान लोग सोये हैं। पतिया और उसकी मा भी अपने खेत पर सोये हैं। गहरी नींद का पहर है। कोई जागता नहीं जान पड़ता। आसमान के सितारे धरती पर उतरकर सबको जगा देना चाहते हैं। इसी से कुछ उत्सुक से दिखते हैं। आदमियों की रात उनका दिन है। खेतों में खड़ी ज्वार भी सन्नाटा खींचे है!

आधी रात बीत गई। एकाएक सड़क के पास के पीपल से, उल्लू के बोलने की आवाज चारों तरफ दौड़ गई। एक मरतबा नहीं, बड़ी देर तक, रह-रहकर, वह पचीसों बार बोलता रहा।

खेतों में जैसे कँपकँपी दौड़ गई। हवा घबड़ाकर इधर से उधर लुकने-छिपने लगी। रात की शांति भग हो गई। ऐसा मालूम होने लगा जसे कोई हत्यारा खून में डुबोई छुरी लिए खेतो के आस-पास डोल रहा हो। आसमान को भी जेसे डर लगा और वह धरती को छोड़कर ऊपर उठन की कोशिश करने लगा। तारे बड़ी गौर से एकटक आँखें गड़ाकर, क्या होने जा रहा है. देखने लगे।

पतिया घबड़ाकर जग उठी। उल्लू की बोली सुनकर उसके रोएँ खड़े हो गये। बोल रुक-सा गया। आँखें खुलकर इधर-उधर देखना चाहती थीं, पर खुलती न थीं। मन में डर फैल गया। उल्लू की बाली क्या थी. जेसे मौत आकर भँडरा रही थो। पतिया ने साचा—मा को जगा दे। उसने जल्दी से मा को हिला दिया। वह न जगी। पतिया की घबड़ाहट और बढ़ गई। तबीयत हुई एक गोफना घुमाकर मचान से उल्लू को मारकर भगा दे. पर उसे याद हो आया कि उल्लू ढेला लोककर किसी कुएँ में डाल देगा। फिर जैसे जैसे ढेला घुलेगा वह भी घुल-घुलकर मर जायेगी। यह सोचकर वह अधिक चिन्तित हो गई। उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। अँधेरी रात में उल्लू की बोली उसे शैतान की तरह तंग कर रही थी। वह कभी इधर करवट बदलती तो कभी उधर, पर चैन नहीं मिलता था। वह जोर से आँख गड़ाकर सोने का बहाना करती और दो तीन मिनट मुरदा-सी पड़ी भी रहती, पर जैसे कोई सोन नहीं देता था। ऐसा मालूम होता था कि जैसे उल्लू ठीक मचान के नीचे ही आकर बोल रहा है। उसने कानों मे उँगलियाँ डाल लीं कि बोल न सुनाई दे, लेकिन बोल फिर भी सुनाई देता रहा। जैसे-जैसे देर होती

गई, पतिया को ऐसा प्रतीत होने लगा मानो हरएक बोल के साथ सैकड़ों उल्लू पैदा होन और चारो ओर उड़-उड़कर बोलने लगे। वह बेहद सहम गई। आज तक वह कभी इतनी न डरी थी।

अन्त में पतिया ने मा को दोनों हाथ से पकड़कर झकझोर दिया। मा जग उठी। बोली—"क्या है, बेटी ?"

पतिया ने मा के मुह पर अपना हाथ रख दिया और बिलकुल चिपटकर एक हो गई। उसका दिल बड़े जोर से धड़क रहा था। वह चुप्पी खींचे मा से लिपटी पड़ी रही।

मा ने सुना, उल्लू बोल रहा है। समझ गई कि पतिया इसकी बोली सुनकर घबड़ा गई है। प्यार से पतिया की पीठ पर हाथ फेर कर वह उसे थपकी देन लगी।

जरा देर के लिए उल्लू का बोलना बन्द हुआ। पतिया की जान में जान आई। मा से बोली—"पूरन भया भी बड़े खराब हैं। मुझे बता देते तो मै यहाँ न आती।"

"हाँ," मा ने कहा।

"मा, मैंने तुम्हें एक बार पहले भी जगाया था। तुम न जगीं तो मेरी जान सूख गई। बोलना बन्द ही न होता था। मैं मरी जा रही थी। न जाने क्यों, मुझे सुन-सुनकर बहुत डर मालूम होता था।"

"उल्लू की बोली ऐसी ही होती है। मुझे तक डर लगता है, तब तेरी कौन कहे। तू तो अभी बच्ची है।"

"बड़ी अशुभ होती है न मा ?" पतिया ने पूछा।

"बहुत," मा ने कहा—"जरूर कोई न कोई बुरी बात होकर रहती है। मेरा दिल भी सहम गया है। ईश्वर भला करे !"

"मालूम होता है, कल भी उल्लू बोला था। तभी पूरन आज यहाँ नहीं सोया और हम लोगों को उसने भेज दिया है।"

"ऐसा होता तो वह जरूर बता देता।"

इतने में उल्लू ने फिर बोलना शुरू कर दिया। पतिया को अनुभव हुआ—मानो रात के अँधेरे में से असंख्य भयानक-भयानक जीव प्रकट होने और आस-पास शिकार की तलाश में दौड़ने लगे हैं। क्षण भर में उसके पास आकर उसे दबोच लगे। फिर पतिया को ऐसा मालूम हुआ जैसे कि कोई मचान उखाड़-कर फेंक देता है। वह और भी डरी। जोर से मा के सीने के पास चिपक गई। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके सारे शरीर में कोई दाँत गड़ाकर उसका मांस नोचे लिये जाता है।

जब तक उल्लू बोलता रहा, पतिया की ऐसी ही दशा रही। उसकी नींद हर गई। कब सबेरा हो, वह इसी का इन्तजार करती रही। मा को ऊपर से तो अधिक चिन्ता नहीं दिखती थी, पर भीतर ही भीतर वह भी पतिया से कहीं ज्यादा डर गई थी। तरह-तरह की बातें वह उल्लू की बोली के बारे में सुन चुकी थी। वे सब बातें उसे एक-एक कर याद आने लगीं। सबेरा होने पर जब मचान से नीचे उतरी और पतिया के साथ घर जाने लगी तो उसे मालूम हुआ जैसे उसकी जान निकल गई है और केवल ठठरी बाकी रह गई है। उसकी बोलने की शक्ति भी खो-सी गई थी। एक भी शब्द वह पतिया से नहीं बोली।

पतिया की समझ में भी नहीं आया कि आखिर मा बोलती क्यों नहीं। सूरज की किरनों के स्पर्श से पतिया का डर भग गया था और वह फिर जैसी की तैसी हो गई थी। लेकिन मा घर पहुँचकर खाट पर लेट गई और फिर किसी से नहीं बोली।

पूरन आया। उसने हाल पूछा। वह कुछ न बोली। उसका पति आया। उससे भी कुछ न बोली। पतिया ने पास बैठकर सिर मींजा और पानी को पूछने लगी। पर मा ने न तो पानी माँगा, न खाना। सारा दिन उसी तरह पड़ी रही।

दूसरी रात को मा ने पतिया को अपने पास इशारे से बुलाया। पतिया आगे को खिसक गई। मा एकटक डबडबाई आँखों से उसकी ओर देखती रही। पतिया से मा की आँखों की ओर देखा न गया। उसे रुलाई आने लगी, पर रोई नहीं। भीतर ही भीतर अपन आँसुओं को पीने लगी।

इसी समय मा का अस्फुट स्वर पतिया को सुनाई पड़ा। मा ने कहा—"मैं तो डर गई थी बेटी कि कहीं तेरे स्वामी को न कुछ..."

मा का स्वर जैसे फिर खो चला। पतिया ने मा को ढारस बँधाते हुए कहा—"कुछ नहीं मा, तुम उनकी चिन्ता न करो। मैं जानती हूँ, उन्हें कुछ न होगा।"

कुछ देर बाद मा का स्वर फिर लौट आया। मा ने क्षीण आवाज में कहा—"अब ठीक है। यह अच्छा हुआ जो बला मेरे सिर गई। मरने से पहले मुझे वचन दे बेटी कि तू अपने घर चली जायगी और अपने पति से..."

मा का यह अधूरा वाक्य फिर पूरा नहीं हुआ। तीन दिन बाद, ठीक उसी समय, मा की जान निकल गई, जिस समय कि खेत में उल्लू बोला था।

(१२)

मा के अन्तिम वचनों की गाँठ बाँधकर पतिया अपने पति

के घर लौट आई। उसने निश्चय कर लिया था कि सब ओर से ध्यान हटाकर अपने पति की वह सेवा करेगी। कमासिन पहुँच कर सबसे पहला काम जो वह करना चाहती थी, वह यही कि स्वामी के पैरों पर पड़कर वह माफी माँगेगी। एक बार यदि वह ठुकरा देंगे तो भी वह उनके पाँव नहीं छोड़ेगी। किन्तु पतिया को बड़ी निराशा हुई जब उसने देखा कि स्वामी घर पर नहीं हैं। मा और बहिन—सबको छोड़कर वह कहीं चले गये हैं।

पतिया मन ही मन खीज उठी। पर उसने अपनी खीज को प्रकट नहीं होने दिया। कुछ दिन तक तो छाती पर पत्थर रख वह काम में अपने मन को लगाये रही। किन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते गये, अपनी खीज को दबाये रखने में वह असमर्थ होती गयी। सबसे अधिक गुस्सा आता था उसे अपनी मा पर। काम करते-करते झुँझलाकर वह कहती—"मरते-मरते मर गई, पर मा को समझ न आई। अन्त समय तक यही कहती रही कि अपने ससुराल की दीवारों से जाकर सिर टकरा। इसीलिए तू ने जन्म लिया है।"

स्वामी के प्रति पतिया के हृदय में जो घृणा थी, उसका अधिकांश मृत मा पर झुँझलाहट उतारने में खर्च होने लगा। एक दिन बैठी-बठी अपने बीते जीवन के बारे में वह सोचने लगी। उसे ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता कि उसका ब्याह कब हुआ था। हाँ, अपने गौने की उसे अच्छी तरह याद थी। पहली रात उसनें अपने पति को जिस रूप में देखा था, उसे एक घड़ी के लिए भी वह नहीं भूल पाती थी।

पर यह तो बहुत बाद की बात है। मायका छोड़ते समय

पतिया को बहुत दुःख हुआ था। उसे अच्छी तरह याद है कि मा की छाती से लगकर कितनी देर तक फूट-फूटकर वह रोती रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि उसका हृदय फटकर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। लेकिन भीतर ही भीतर पतिया खुश भी थी। जिस तरह मा ने दिन-रात पतिया के अङ्ग-अङ्ग की टोह लेना शुरू कर दिया था, उससे पतिया घबरा उठी थी। जी में होता था कि भागकर किसी ऐसी जगह वह पहुँच जाय, जहाँ मा उसका पता तक न पा सके।

मा की इस देख-भाल से पतिया उकता गई थी। उसकी कुछ समझ में नहीं आता था कि वह क्या करे। कैसे अपनी मा की नजरों से अपना पीछा छुड़ाये। बात बहुत आगे बढ़ गई थी। कभी-कभी तो पतिया सपने में यहाँ तक देखती कि न-न करते भी मा ने उसके बदन का कपड़ा हटा दिया है और उसके अङ्ग-अङ्ग को टटोलकर देख रही है। बहुत कोशिश करने पर भी पतिया के मुँह से आवाज़ नहीं निकल पाती थी। बेबसी की हद थी। आखिर जब नहीं रहा जाता तो पतिया के मुँह से चीख निकलती—"यह क्या कर रही हो मा...?"

"क्या है, बेटी?" मा पतिया की चीख सुनकर पूछती। पतिया कुछ न बोलती। चुप साधे पड़ी रहती। उसे डर लगता कि कहीं मा सचमुच में उसके पास न चली आये। पड़े-पड़े वह अपने कपड़ों को समेटने लगती और गठरी-सी बनकर पड़ जाती। इसके बाद सावधानी से टटोल-टटोलकर देखती और यदि कपड़ों का कोई ओर-छोर या सिरा इधर-उधर निकला मिलता तो उसे भी समेटकर पड़ रहती।

पतिया का यह डर यहाँ तक बढ़ गया था कि वह स्वयं भी

अपने शरीर की ओर नहीं देख पाती थी। इतनी बड़ी वह हो गई थी, पर कभी अपने शरीर की ओर देखन का उसे साहस नहीं होता था। नहाने-धोने में यदि उसका कोई अङ्ग उघरा दिखाई पड़ जाता था तो चट से आँखे बन्द कर लेती थी। सबसे अधिक उलझन होती थी उस समय जब उसकी मा, विरोध करने पर भो, उसक उबटन लगाती थी, तेल मलती थी और रोज देखती थी कि उसका बदन कुछ हरा होने लगा है या नहों!

पतिया को यह बहुत बुरा लगता था। गौना होने पर जब वह मायके से बिदा हुई तो उसन संतोष की साँस ली कि अब वह निर्विघ्न जीवन बिता सकेगी। इसीलिए एक ओर जहाँ वह अपनी मा की छाती से लगकर आँसू बहा रही थी, वहाँ दूसरी ओर मन ही मन उसे खुशी भी हो रही थी।

इसके बाद हो आई वह रात, पहलो बार जब पतिया को अपने स्वामी का संसर्ग प्राप्त हुआ। पतिया सन्न रह गई और तब उसने अनुभव किया कि उसकी मा किस कँड़े की बनी हुई है। पतिया को ऐसा लगा कि उसकी मा की आत्मा ही स्वामी के शरीर में प्रवेश कर उसे नंगा नाच नचाने पर उतर आयी है। इसीलिए मा ने उसका विवाह किया है।

पतिया की दशा विचित्र थी। रह-रहकर पतिया सोचती थी कि स्वामी उसकी मा का ही रूप है और उसे फँसाने के लिए ही मा ने उसके साथ उसका विवाह किया है। जितना ही पतिया सोचती, उतना ही अपने स्वामी से उसका मन विमुख होता जाता और अन्त में मा को लक्ष्य मे रख वह अपने मन की जलेन उतारती। कभी-कभी तो वह यहाँ तक

बेचैन हो उठती कि उसी दम जाकर अपनी मा से कहे—"मा, तुमने मेरा ब्याह क्या किया है; मेरी जान साँसत में फँसा दी है। मेरी जगह यदि तुम्हारा उसके साथ ब्याह हुआ होता तो...?"

पतिया का सारा बदन जलने लगता। ओंठ फड़कने लगते और उनके हाथों की मुट्ठियाँ बँध जातीं। आखिर वह दिन आया जब वह अपने पति के घर से भाग निकली और अपनी मा के घर पहुँची। मुश्किल से छः-सात महीने रह पाई होगी कि मा की मृत्यु हो गई और अन्त समय भी मा यही कहती गई—"बेटी ससुराल को ही अपना घर समझकर रहना!"

(१३)

ससुराल में पतिया की पहले किसी से पटरी नहीं बैठती थी—न मोहिनी से, न मोहिनी की मा से। किन्तु इस बार, मा की मृत्यु होने के बाद, जब वह कमासिन आई तो मोहिनी की मा और मोहिनी ने उसे अपनाने में कोई कसर न छोड़ी। अनेक कारणों मे से एक प्रमुख कारण इसका यह था कि तीनों एक ही दुख से दुखी थीं। वह यह कि तीनों में से किसी एक को भी ऐसा मरद-मानुस नहीं मिला था, जिसे देखकर वे संतोष की साँस ले सकें।

मोहिनी अब पतिया को हर समय घेरे रहती थी। पतिया की वे सब बातें मोहिनी को अच्छी लगती थीं जो कि पतिया की मा के हृदय में खटकती रहती थीं। पतिया के गले में बाँहें डालकर मोहिनी कहती—"सच मानो भौजी, परमात्मा ने अपने हाथ से तुम्हारे शरीर को गढ़ा है!"

पहले पतिया मोहिनी की बातें सुनकर चौंक उठती थी।

मोहिनी जब उसके गले में बाँहें डालने आती थी तो वह पीछे हट जाती थी और जहाँ तक उससे बनता था, मोहिनी को अपने से दूर रखने का प्रयत्न करती थी। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि उसे चिढ़ाने और उसकी हँसी उड़ाने के लिए मोहिनी इस तरह की बातें करती है। किन्तु आगे चलकर, धीरे-धीरे, पतिया का विरोध कम होता गया और उसे भी कुछ-कुछ विश्वास होने लगा कि सचमुच, उसे गढ़ने में विधाता ने कुछ अतिरिक्त कौशल का परिचय दिया है।

एक दिन की बात है। मोहिनी पतिया को घसीटती हुई अपनी माँ के पास ले गई और बोली—"देखती हो मा, पतिया कितनी अच्छी है। ऐसा मालूम होता है कि परमात्मा ने इसे लड़का बनाते-बनाते लड़की बना दिया है!"

मोहिनी की बात सुनकर पहले तो मा खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर कुछ सँभलकर बोली—"ठीक कहती है तू। लड़का बनाते-बनाते परमात्मा ने पतिया को लड़की बना दिया है... .."

कुछ देर रुककर मा ने फिर कहा—"और भाग्य तो देख, इसके पति को परमात्मा ने मानो लड़की बनाते-बनाते लड़का बना दिया है।"

"हाँ मा", मोहिनी ने मा की बात सुनकर कहा, "स्वामी ठीक ऐसा ही है, जैसा तुम कहती हो। तुम्हारी साड़ियाँ पहनने के लिए वह बुरी तरह मचला करता था। जब मैं नहीं पहनाती थी तो मेरे कपड़े तक फाड़ डालता था। उसका बस चलता तो वह हमें नंगा ही रखता और खुद साड़ियाँ पहने घूमा करता!"

"मैं तो पहले ही जानती थी", मा ने कहा, "जैसा बाप,

वैसा बेटा। लड़की के रूप में ही पैदा हुआ होता तो किसी का घर बसाकर बेठता .... ..!"

एकाएक मोहिनी की मा को अपने पति की याद हो आई। अपने पति को वह कभी आदर की दृष्टि से नहीं देख सकी थी। भीतर ही भीतर उसके हृदय में अपने पति के प्रति असन्तोष उमड़ता रहता था। झुँझलाकर पति के मुँह पर ही जाकर कहती—"तुम्हें तो नाहक परमात्मा ने मर्द बनाया है !"

मोहिनी के पिता इसका कोई जवाब नहीं देते थे। मोहिनी की मा उलटी-सीधी सुनाती रहती थी और वह हो-हो करके हँसते रहते थे। उनकी इस हँसी से मोहिनी की मा के हृदय में और भी आग लग जाती थी।

मोहिनी की मा के हृदय की वह आग अब तक ठण्डी नहीं पड़ी थी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके पतिदेव स्वर्ग में बैठे अब भी उसी प्रकार हो-हो कर हँस रहे हैं। बल खाकर वह बोली—"ऐसा आदमी कहीं नहीं देखा। लाज-शरम तो उसमें बिल्कुल नही रह गई थी। उसकी आँखों के सामने ही मैं ठाकुर रामदीन के यहाँ जाती थी और वह आँखों पर ठीकरी रखे देखता रहता था !"

मोहिनी ने देखा कि मा ने अपना पुराना रोना शुरू कर दिया है। पतिया का हाथ पकड़कर वह खिसकने लगी। दो-चार कदम ही गई होगी कि फिर लौट आई। अपनी मा को सम्बोधित कर कहने लगी—"मा, इसमें कुछ दोष तुम्हारा भी है। तुमने अपने हाथों ही अपना नाश किया है। आँखें बंद कर तुमने ठाकुर रामदीन का साथ दिया। जब तक रंग-रूप रहा, वह तुम्हारे साथ खेलता रहा। अब आँख दिखाता है।

तुम्हारी जगह यदि वह मेरे हाथ पड़ा होता तो मै ऐसा नाच नचाती कि पुरखे तक तर जाते !"

मोहिनी की मा ने इसका कोई उत्तर नही दिया। बस, एकटक मोहिनी और पतिया को साथ जाते देखती रही। पतिया को लेकर मोहिनी स्वामी के कोठे में पहुँची और उसने एक नया खेल खेलना शुरू कर दिया। स्वामी जब घर से गया था तो अपने साथ कुछ नहीं ले गया था। जो कपड़े पहनकर वह घर से निकला था, उनके अतिरिक्त उसने अपने साथ और कुछ नहीं लिया था।

मोहिनी ने कोठे में जाकर स्वामी के कपड़ों को निकाला। फिर पतिया को अपने पास बुलाकर उसे स्वामी की मखमली पाड़ की धोती पहनाई, स्वामी का कुर्त्ता उसके गले में डाला, दोनों भौंहों के बीच बिन्दी लगाई और फिर कुछ दूर खड़ी होकर पतिया को देखने लगी।

"देखो पतिया," मोहिनी ने कहा, "समझ लो कि तुम हो ठाकुर और मै हूँ तुम्हारी प्रेमिका। तुम्हें मुझसे प्रेम करना होगा। यह देखो, इस तरह, जैसे मैं बताती हूँ......"

इसके बाद मोहिनी ने पतिया को बताना शुरू किया कि प्रेमी बनने के लिए कैसे क्या किया जाता है। ठाकुर साहब से शुरू करके मोहिनी गाँव के अन्य आवारा छोकरों की भी नकल करने लगी। इस तरह मोहिनी और पतिया दोनों मिलकर कभी ठाकुर साहब की हँसी उड़ातीं और कभी गाँव के किसी अन्य छोकरों की। कभी कभी वह ऐसे लोगों की भी नकल उतारा करती जिनके बाल तो सफ़ेद हो गये थे, मगर दिल जिनका अब तक जवान बना हुआ था !

(१४)

ठाकुर रामदीनसिंह की उमर पचास के करीब होगी, पर शरीर से भरे पूरे हैं। किसी प्रकार की शक्ति-हीनता नही मालूम पड़ती। खूब पाली-पोसी देह है। गोरे रंग पर घी-दूध की चिकनाई है। आँखो से वशीकरण दृष्टि से देखते हैं। मूँछों की आड़ में अपनी रसिकता छिपा कर ओंठों से धीरे-धीरे प्रकट करते हैं। कद ऊँचा है। हाथ मुग्दर के भँजे हुए हैं। पर उनके अखाड़े की मिट्टी खाये हैं। गरदन पहलवानी के गुद्दे खा चुकी है।

ठाकुर साहब ने तीन ब्याह किए, पर तीनों ब्याहता औरतें ससुराल में आकर कुछ महीने रहीं और फिर स्वर्ग सिधार गईं। यह बात नहीं कि उनकी तीनों पत्नियाँ रुग्ण रही हों। वे खूब तन्दुरुस्त और किसी भी रोग से ग्रसित नहीं थीं। फिर भी ठाकुर रामदीनसिंह के साथ रहकर वे न जाने क्यों चल बसीं। इसके बाद चौथा ब्याह करना चाहते थे, पर जब लोग तीनों पत्नियों को स्वर्ग सिधारने की बात सुनते तो चौंक जाते और अपनी लडकियाँ देने से इनकार कर देते। ठाकुर साहब के कोई सन्तान भी न थी। उनके भाई भतीजे और नाती-पोतों का अच्छा खासा परिवार था, पर उनकी अपनी औलाद कोई न थी। मालदार इतने नहीं, जितनी कि उनकी मालियत का नाम था। दरवाज़े पर घोड़ा बँधा रहता है। कई जोड़ी बैल हैं। कई हल की खेती होती है। कुछ जमींदारी भी है।

बहुत दिनों के बाद ठाकुर साहब ने मोहिनी की मा को बुलाया है। मोहिनी की मा आई है और आकर दरवाजे पर खड़ी हो गई है। वह प्रतीक्षा कर रही है कि ठाकुर साहब की नजर उस पर पड़े तो वह आगे बढ़े।

लेकिन उन्हें बहुत संतोष होता है; जब कभी वह इस तरह की बात सोचते हैं—"नहीं तो फिर क्या बात है जो एक नहीं, दो नही, तीन-तीन ब्याह किये और एक भी जीती नहीं बची !"

इस समय भी ठाकुर साहब कुछ इसी तरह की बात कहने जा रहे थे कि सहसा उनकी नजर मोहिनी की मा पर पड़ी। देखते ही बोले—"मोहिनी की मा, आओ। तुम तो आजकल ईद का चाँद हो रही हो !"

"ईद का चाँद होना तो बुरा नहीं", मोहिनी की मा ने कहा, "जब दिखाई पड़ता है तो साल भर की उदासी पलक मारते दूर हो जाती है। यह मेरा सौभाग्य है जो..."

"क्या बात कही है !" ठाकुर साहब ने ठहाका लगाते हुये कहा, "देखते ही उदासी दूर हो जाती है। सच कहता हूँ, मोहिनी की मा, यदि तुम न होतीं तो मेरे लिये ससार सूना हो जाता !"

मोहिनी की मा ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप ठाकुर साहब की ओर देखती रही। कुछ देर रुककर ठाकुर साहब ने फिर कहा—"ऐसा जाल फैलाया है लोगों ने कि तीसरी के बाद चौथी का रास्ता ही बन्द कर दिया है। यह तुम्हारी ही हिम्मत थी मोहिनी की मा जो ऐसे आड़े समय में भी तुमने मेरा साथ न छोड़ा !"

ठाकुर साहब का अब तक इस बात पर ध्यान नहीं गया था कि मोहिनी की मा जब से आई है, तब से खड़ी है। अब जो इधर उनका ध्यान गया तो बोले—"अरे मोहिनी की मा, तुम अब तक खड़ी हो। बैठो न। आखिर यह मसनद किसलिए है !"

मोहिनी की मा का हाथ पकड़कर ठाकुर साहब ने मसनद

पर बिठा दिया। फिर बोले—"न जाने किस बदली में तुम छिपी रहती हो, मोहिनी की मा! महीनों हो जाते हैं, दिखाई नहीं पड़ती!"

'क्या बताऊँ, ठाकुर साहब", मोहिनी की मा ने कहा, "इधर मैं अजब मुसीबत में फँसी रही। बिना कुछ कहे-सुने पहले तो पतिया घर छोड़कर चली गई, फिर एक दिन नारायन और स्वामी भी कहीं भाग गये। इसके साथ-साथ मैं ऐसी बीमार पड़ी कि बस, राम ही मालिक थे..."

ठाकुर साहब ने मोहिनी की मा की बात को कुछ सुना, कुछ नहीं सुना। असल में उनका ध्यान दूसरी ओर पहुँचा हुआ था। बहुत दिनों से वह मोहिनी की मा से एक बात पूछना चाहते थे। पर अनेक कारणों से पूछते-पूछते रह जाते थे। एक हिचक-सी थी जो उन्हें अपने मन की बात बाहर रखने से रोकती रहती थी।

"मोहिनी की मा, एक बात मेरी समझ में नहीं आती," ठाकुर साहब ने कहना शुरू किया, "जब तक तुम्हारे पति जीवित रहे, तब तक तो तुम बेरोक-टोक आती रहीं। न तुमने दिन देखा, न रात। लेकिन जब से तुम्हारे पति की मृत्यु हुई, तब से तुमने आना बन्द कर दिया। यह अजब बात है!"

"आप इसे नहीं समझ सकते," मोहिनी की मा ने कहा और फिर चुपचाप ठाकुर साहब की ओर देखने लगी।

"यह तो टालने की बात हो गयी।" ठाकुर साहब ने कहा, "ऐसी इसमें क्या बात है जो मेरी समझ में नहीं आ सकती!"

"क्या बताऊँ. ठाकुर साहब।" मोहिनी की मा ने कहा, "स्त्री होकर भी मैं अपने हृदय का रहस्य नहीं समझ पाती। आप तो खैर मर्द ठहरे...!"

"तुम भी खूब हो, मोहिनी की मा," ठाकुर साहब ने कहा, "जब तक पति जीवित रहा, तब तक तुम्हें मेरी भी जरूरत रही, जब पति मर गया तो मानो मैं भी मर गया...!"

कह कर ठाकुर साहब अपनी हँसी न रोक सके। अपनी बात को पूरा करते न करते हा-हा कर हँसने लगे। मोहिनी की मा से यह नहीं सहा गया। सहसा उसे अपने पति की हँसी का ध्यान हो आया। उसका मुँह लाल हो गया, वह तमतमा कर बोली, "मालूम होता है, मेरी हँसी उड़ाने के लिए ही आपने मुझे आज बुलाया है। अच्छी बात है, हँसिये—खूब हँसिये!"

ठाकुर साहब की हँसी पर जैसे पानी पड गया। सँभल कर फिर बोले—"अच्छा बाबा, तुम जो कहती हो, वही ठीक है। नारी के जीवन का रास-रग—वह जायज हो या नाजायज—सब कुछ उसके पति के जीवन पर निर्भर है!"

ठाकुर साहब की बात सुनकर मोहिनी की मा चुप हो गई। मोहिनी ठीक कहती थी कि स्वयं उसी ने अपने हाथों अपना नाश किया है। पति की मृत्यु के बाद उसने ठाकुर साहब के यहाँ आना कम कर दिया था। लेकिन ठाकुर साहब उसे सहज ही छोड़नेवाले जीव नहीं थे। पति की मृत्यु के बाद वह मोहिनी की मा पर अपना पूरा अधिकार समझने लगे थे।

"देखो मोहिनी की मा," कुछ देर रुककर ठाकुर साहब ने फिर कहा—"इतने दिन हमें खेल करते हो गए। मैं चाहता हूँ कि अब हम-तुम और भी गहरे सूत्र में बँध जाएँ। इसीलिए मैंने तुम्हें आज बुलाया है।"

मोहिनी की मा प्रश्न सूचक दृष्टि से ठाकुर साहब के मुँह की

ओर देख रही थी। उसने कुछ कहा नहीं। चुपचाप ठाकुर साहब की बात के पूरा होने की प्रतीक्षा करने लगी।

"घर में मेरे बाद सम्पत्ति की देख-भाल करनेवाला कोई नहीं है," ठाकुर साहब ने कहा, "न हो तो मोहिनी का मेरे साथ. ."

ठाकुर साहब का यह प्रस्ताव सुनकर मोहिनी की मा चौंक पड़ी। ठाकुर साहब इतना आगे बढ़ जाएँगे। इसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। एकाएक उसे विश्वास नहीं हुआ कि ठाकुर साहब ऐसा कर सकते हैं।

मोहिनी को लेकर मोहक बातें पहले भी होती रहती थीं। लेकिन वे बातें मोहक ही होती थीं, दाहक नहीं। इधर-उधर की दो-चार बातें करने के बाद मोहिनी की मा के बालों में अँगुलियों से कंघी करते हुए कहते—"बड़ी सुन्दर लग रही हो आज तुम। सच-सच बताना, यह सिंगार किसने किया है?"

"मैंने...!" मोहिनी की मा कहती और फिर भेद-भरी आँखों से ठाकुर साहब की ओर देखने लगती।

"मैं नहीं मान सकता। यह तो किसी और के हाथों का काम है।"

"न माने सरकार, मेरे इन हाथों में अब भी......"

"मैं मानता हूँ, पर अब ये कुछ..."

मोहिनी की मा के हृदय में जैसे फन्दा-सा लगता, फिर कुछ सँभालकर कहती—"सरकार भी खूब पहचानते हैं।"

"बाल पक गये हैं देखते-देखते। इन निगाहों को धोखा नहीं हो सकता...!"

"ठीक कहते हैं, सरकार, आपको धोखा नहीं हो सकता !" मोहिनी की मा निचले ओंठ को दाँतों से दबाते हुए कहती—"मैं जब चलने लगी तो मोहिनी ने कहा—सरकार से मिलने जाती है मा, मैं सिङ्गार कर दूँ ।"

इसके बाद ठाकुर साहब को ऐसा प्रतीत होने लगता मानो मोहिनी की मा नहीं, वरन् स्वयं मोहिनी को उन्होंने पा लिया हो। मोहिनी की मा भी हृदय में जलन और ओंठों पर हँसी लिये ठाकुर साहब का साथ देती। मोहिनी की मा की आँखे उस समय जैसे कहती प्रतीत होतीं—"ठीक कहते हैं, सरकार ! आपको कभी धोखा नहीं हो सकता !"

मोहिनी की मा जानती थी कि इस तरह अधिक दिन नहीं चल सकता। एक न एक दिन तोड़ होकर ही रहेगा। मन की बात को चाहे जितना दबाकर रखो, वह बाहर आये बिना नहीं रहती। अनेक बार ऐसा हो चुका था। मोहिनी की मा और ठाकुर साहब के मेल में अब वह पहले जैसी मिठास नहीं रह गई थी। मिठास से अधिक कड़वाहट ही सामने आती थी और इसके बाद ...

आज भी ऐसा ही हुआ। ठाकुर साहब ने जब देखा कि मोहिनी की मा का मुँह तमतमा उठा है तो अपने को रोक लिया। फिर मोहिनी की मा के और निकट खिसकते हुये उन्होंने कहा—"तुम बहुत पीली पड़ गई हो, मोहिनी की मा !"

"बताया न आपसे, मै बीमार पड़ गई थी और......"

मोहिनी की मा ने पहले कही गई बातों को फिर से दोहरा दिया। ठाकुर साहब का ध्यान दूसरी ओर था, इसी से पहली बार मोहिनी की बातों को कुछ सुना था, कुछ नहीं सुना था।

बीमारी की बात सुनकर वह मोहिनी की मा की ओर इस तरह देखने लगे मानो कह रहे हों—"अच्छा, तुम बीमार पड़ गई थीं !"

कुछ देर तक ठाकुर साहब इसी भाव से मोहिनी की मा की ओर देखते रहे। फिर बोले—"मालूम होता है, तुम्हारे ओंठों की लाली किसी ने चुरा ली है।"

"चुरा नहीं ली है," मोहिनी की मा ने कहा—"मैंने खुद दे दी है।"

"किसे . ...?"

"जानते तो हैं, सरकार !" कहते-कहते मोहिनी की मा के ओंठों पर मुस्कराहट खेल गई। "मेरी चीज़ पर सिवा मेरी बेटी के और किसका अधिकार हो सकता है !"

"यह तो पूरी ठगई है, मोहिनी की मा..."

"ठगई !" मोहिनी की मा ने बीच में ही बात काटकर कहा—"न-न, ठाकुर साहब, आपके साथ ठगई मैं नहीं करूँगी !"

ठाकुर साहब मोहिनी की मा की ओर इस तरह देखने लगे मानो उनकी कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि वह क्या कह रही है ?

"सच कहती हूँ, सरकार !" मोहिनी की मा ने कुछ रुककर फिर कहना शुरू किया—"अगर आप चाहें तो मोहिनी को आपके क़दमों पर लाकर डाल सकती हूँ और इसके बाद मोहिनी के बाल जब पकने लगें तो.. !"

जिस बात को मोहिनी की मा इतने दिनों से अपने मन में दाबकर रखने का प्रयत्न करती आ रही थी, आखिर वह प्रकट

हो ही गई। ठाकुर साहब को ऐसा मालूम हुआ मानो जलते अंगारे पर उनका पाँव पड़ गया हो। तमक कर वह बोले—"यह क्या बक रही हो, मोहिनी की मा! अपनी जबान बंद करो! मैं इतना नीच नहीं हूँ जितना कि तुम मुझे .....!"

"नहीं-नहीं, आप नीच क्यों होने लगे", मोहिनी की मा का सारा शरीर एक अंगारा बन चला था, "नीच तो मैं हूँ जो...!"

ठाकुर साहब से दो टूक बातें करने के बाद मोहिनी की मा जब अपने घर पहुँची तो मोहिनी और पतिया की बातों की कुछ भनक उसके कानों में पड़ी। एक ओर ओट में खड़ी होकर मोहिनी की मा दोनों की बातें सुनने लगी।

"इसी तरह कब तक चलेगा," पतिया कह रही थी, "घर में नाज का एक दाना तक नहीं है। हमें कुछ न कुछ करना चाहिए।"

मोहिनी कुछ क्षण एकटक पतिया की ओर देखती रही। फिर बोली—"क्या करोगी, भौजी, मैं भी तो कुछ सुनूँ?"

"यदि और कुछ नहीं तो दो-चार घर चौका बासन......"

"चौका-बासन!" मोहिनी ने पतिया की बात बीच में ही काटते हुए कहा, "सच कहती हूँ, भौजी, चौका-बासन करते-करते मर जाओगी, फिर भी तुम्हें इतना नहीं मिलेगा कि..."

पतिया कुछ इस तरह मोहिनी की ओर देखने लगी कि एक ही साँस में मोहिनी अपनी बात को पूरा नहीं कर सकी। कुछ सँभलकर वह फिर बोली, "यकीन न हो तो अजमाकर देख लो। चौका-बासन करके तुम इतना भी न पा सकोगी जितना कि मैं दो-चार बार इधर से उधर आँखें मटकाकर......."

मोहिनी की मा ने एकाएक सामने आकर मोहिनी की बात का जैसे गला घोट दिया। एक बार मा के जी में आया कि पतिया और मोहिनी दोनों को बुलाकर साफ-साफ सब बातें समझा दे। पर फिर कुछ सोचकर रह गई।

रात भर मोहिनी की मा को नींद नहीं आई। पड़े-पड़े वह तरह-तरह की बातें सोचती रही। अपने आप वह चाहे जैसी रही हो, पर यह वह कभी नहीं चाहती थी कि मोहिनो भी उसी के रास्ते पर चलकर उसी की तरह ठोकर खाए। बहुत कुछ उसने सोचा, पर उसकी यह समझ में न आया कि मोहिनी आग के साथ तो खेलना चाहती है, मगर आशा यह करती है कि चाहे जो हो जाए, उसका हाथ कभी नहीं जलेगा!

(१५)

पतिया दो घरों में पानी भरने का काम करने लगी। एक घर में चौका-बासन की नौकरी मिल गई। इस तरह कुल तीन जगह उसे काम करना पड़ता था। इसके अलावा अपने घर का पूरा काम भी उसी को करना पड़ता था। मोहिनो की तो दुनिया ही दूसरी थी। सास से कुछ होता न था। सारी जिम्मे-दारी पतिया के ऊपर आ पड़ी, जैसे उसी के द्वारा उद्धार होना हो। उसमें भी न जाने कहाँ की शक्ति आ गई थी। उसे खुद अपने ऊपर ताज्जुब होता था कि वह कैसे इतना सब कर लेती है।

पतिया की मेहनत से घर फिर सुधर चला। साफ-सुथरा रहने लगा। सबेरे पतिया सबसे पहले उठकर घर में झाड़ू लगाती। रस्सी कंधे पर डाल और घड़ा बगल में दाब कुएँ से पानी भर लाती। बरतन वगैरह माँजती। बकरियों की देख-

भाल करती। उनकी मींगनियों के ढेर को डलिया में भर घूरे पर फेंक आती। चूल्हे को ठीक करती। गुरसी में आग जलाती। यही सब करते-कराते सूरज की किरनें खपरैल पर फैल जातीं और घर में उजाला भर जाता।

पतिया ने घर को सँभाल लिया था। मोहिनी की मा इससे बहुत खुश थी। ठाकुर साहब से अलग हो जाने के बाद मोहिनी की मा भी घर के काम-धंधे की ओर अधिक ध्यान देने लगी थी। उसे कुछ ऐसा मालूम होता था कि यदि वह अपनी सारी शक्तियों को बटोरकर नहीं चलेगी तो कहीं की न रहेगी।

पतिया भी ऐसा ही समझती थी। इसी से मोहिनी की मा और पतिया एक-दूसरे के बहुत निकट आ गईं। मोहिनी को यह अच्छा नहीं लगा। घर में वह अब और भी नहीं टिकती थी। उसका बाहर घूमना दिन-दिन अधिक होता जा रहा था।

पतिया के साथ मोहिनी अब अधिक नहीं रह पाती थी। इसका अवसर ही नहीं मिलता था। मोहिनी चाहती कि पतिया हर घड़ी उसके बनाव-सिगार में हाथ बँटाया करे, पर पतिया को काम से फुरसत न मिलती थी।

"तुम तो चौका-बासन की होकर रह गईं, भौजी!" जब कभी प्यार उमड़ता तो पतिया के दोनों कंधों पर हाथ रखकर मोहिनी कहती।

"आखिर घर में कोई ऐसा भी तो हो जो... .."

बीच में ही बात काटकर मोहिनी कहती—"जाओ भौजी, तुम भी यों ही रहीं। तुमसे कुछ नहीं होने का......!"

पतिया इसका कुछ उत्तर नहीं देती। कुछ देर चुप रहने के

बाद मोहिनी फिर कहती—"ठीक, अब मेरी समझ में आया भौजी कि......?"

"क्या समझ में आया...?" पतिया अचकचा कर पूछती।

"यही कि भैया घर का मोह छोड़ क्यों भाग गये? आखिर तुम्हें लेकर वह करते भी क्या......?"

मोहिनी को ऐसा लगता था कि पतिया चौका-बासन से ऊपर उठकर नहीं देखेगी। वह जैसे नहीं जानना चाहती कि चौका-बासन के अलावा दुनियाँ में और कुछ भी है। मोहिनी की चिढ़ यहाँ तक बढ़ गई कि वह घर पर खाना तक न खाती थी। कहती थी—"चौका-बासन की कमाई से मै अपना पेट नहीं भरूगी—चाहे मर भले ही जाऊँ!"

मोहिनी के रङ्ग-ढङ्ग मा को अच्छे नहीं लगते थे। रह-रहकर वह यही सोचती थी कि किसी तरह मोहिनी को उसके ससुराल भेज सके तो अच्छा हो। मोहिनी से जब कभी वह ऐसा कहती तो वह कुएँ में डूब मरने की धमकी देती। कहती "मैं सब कुछ कर सकती हूँ, पर वहाँ मैं नहीं जा सकती।"

एक बात और भी थी। मोहिनी के ससुराल से भी उसे लिवाने के लिए कोई नहीं आ रहा था। मा को चुप करने के लिए मोहिनी जहाँ और बहुत-सी बातें कहती, वहाँ यह भी कहती—"तुम तो मुझे घर से बाहर निकालने पर तुली हो, माँ! आखिर वह कैसे हैं, जो खोज-खबर तक नहीं लेते......!"

कुछ देर ठहर कर मोहिनी फिर कहती—"और फिर मैं तुमसे न खाने को माँगती हूँ, न पहनने को। दो घड़ी घर में रहना भी न सुहाता हो तो अच्छी बात है, काला मुँह करके जहाँ मुझसे बनेगा, चली जाऊँगी!"

मोहिनी की मा से कुछ कहते नहीं बनता था। मोहिनी की बातें सुन वह भीतर ही भीतर घुटकर रह जाती थी।

एक दिन की बात है। मोहिनी न जाने कहाँ स दूध माँगकर ले आई। पतिया के पास आकर कहने लगी—"भौजी, यह लो दूध। आज खीर बनेगी!"

मोहिनी की मा ने जो यह सुना तो उससे न रहा गया। तमतमाकर मोहिनी से पूछा—"कहाँ से लाई है यह दूध—?"

"कहाँ से लाई हूँ, तुम्हें इससे क्या मतलब?" मोहिनी ने कहा—"तुम्हें अच्छा न लगे तो मत खाना खीर--!"

मोहिनी को कोई उत्तर न दे पतिया से मा ने कहा—"खबरदार, जो चूल्हे पर इसे चढ़ाया तो। जा, इसी वक्त घूरे पर फेंककर आ।"

पतिया दरवाजे की ओर बढ़ी ही थी कि बाहर से किसी ने पुकारा—"स्वामी भैया!"

पतिया जाते-जाते ठिठक गई। बोली—"कोई आया है।'

मोहिनी की मा ने पूछा—"कौन है?"

उत्तर मिला—"हम हैं, स्वामी के बहनोई।"

एक क्षण के लिए मोहिनी, पतिया और मोहिनी की मा धक्-से रह गये--मानो कोई अनहोनी बात हो गई हो। फिर कहा—"भीतर चले आओ।"

मोहिनी की मा खाट पर बैठ गई। एक मामूली कद का आदमी आँगन में आकर खड़ा होकर इन्तजार करने लगा कि सास उठे तो वह पलँग पर बैठे।

सास ने कहा—"आओ, बैठो। अभी आ रहे हो क्या?"

"हाँ, गाँव से अभी आ रहा हूँ," बैठते हुए उसने कहा।

"सब अच्छी तरह हैं ?"

"हाँ ।"

"बहुत दिनों पर आये, लाला, तुम तो हम सबको जैसे भूल ही गये !"

"हाँ, बहुत दिन हो गए। इसी से सोचा कि चलो, मिल आऊँ ।"

"अच्छा तो बैठो। मैं अभी आई।" मोहिनी की मा ने कहा और उठकर भीतर चली गई। मोहिनी और पतिया पहले ही खिसक गई थीं। भीतर पहुँचकर मोहिनी की मा ने पतिया से कहा—"देख तो मेहमान के लिए दूध गरम कर देना...न हो तो खीर ही बना लेना !"

मोहिनी भी वहीं थी। मा की बात सुनकर वह जल-भुन गई। बोली—"यह नहीं हो सकता। मेरे दूध को कोई हाथ नहीं लगा सकता !"

"कोई बात नहीं। वसूल कर लेना सब अपने पति से !" मा ने कहा और कहकर चली गई।

मा के जाने के बाद पतिया का मुँह खुला। मोहिनी को कोचने का मौका देखकर उसने कहा—"बड़े भाग्यवान हैं। इतने अच्छे मुहूर्त्त में आये हैं कि........."

"जरूर, खाने को खीर मिलेगी न !" मोहिनी ने पतिया की अधूरी बात को पूरा कर दिया।

रात को मा ने मोहिनी को समझाना शुरू किया। उसने अपने मन से सोच लिया था कि चाहे जो हो, मोहिनी को इस बार वह भेजकर ही रहेगी। पाल-पोसकर इतना बड़ा कर दिया। अब जाकर अपने घर रहे।

पहले तो मोहिनी ना-नुकर करती रही। बिगड़ी और झुँझ-लाई भी बहुत। पर मा ने पीछा न छोड़ा। आखिर तंग आकर मोहिनी ने कहा—"अच्छी बात है। तुम्हें मुझे कुएँ में ही ढकेलना है तो यही सही। मैं चली जाऊँगी।"

मा को एकाएक विश्वास नहीं हुआ। एक बार फिर से सुनने के लिए पूछा—"क्या कहा, चली जायगी न ?"

"हाँ-हाँ, चली जाऊँगी," मोहिनी ने कहा—"यकीन न हो तो कसम खाकर कहूँ........"

"न-न, मोहिनी," मा ने कहा, मुझे तेरा यकीन है। तू जो कहती है, उसे करके रहती है। यह मैं जानती हूँ।"

इसके बाद मा ने मोहिनी को इस तरह दुलारना शुरू किया मानो वह छोटी-सी बच्ची हो और उसे अपने घर से ससुराल के लिए बिदा करने की बात ने उसके हृदय को अत्यधिक व्यथित कर दिया हो। इतने प्रेम से मा ने मोहिनी को अपने हृदय से लगाया मानो इसके बाद उससे फिर कभी मिलना न हो सकेगा।

तीसरे दिन अँधेरेमुँह मोहिनी को बिदा करना तय हुआ। दो दिन तक मोहिनी बड़े ढंग से रही। उसने ऐसी कोई बात नहीं की जिससे मा को चिन्ता हो या उसकी ओर कोई उँगली उठाये। बि्ा की तैयारी बिना किसी बाधा के होने लगी।

बिदा की रात मोहिनी और मा दोनों बहुत देर तक बातें करते रहे। बातें करते-करते आखिर मोहिनी की मा ने कहा—"अब सो जा। अँधेरेमुँह चलना है।"

मोहिनी की मा का आँखें झपका देना ही आफत हो गया। मोहिनी उठी और चुपचाप गायब हो गई। मा की जब आँखें खुलीं तो धक्-से रह गई। पहले तो प्रतीक्षा करती रही कि

मोहिनी यहीं कहीं होगी। अपने आप आ जायगी। किन्तु प्रतीक्षा करने पर भी जब वह न आई तो अन्त में हारकर उसके पति से कहा—"बड़ी पागल लडकी है। न जाने कहाँ जाकर छिप रही। तुम अब जाओ। मै खुद उसे पहुँचा दूँगी!"

बाद में पता चला कि मोहिनी ठाकुर साहब के यहाँ पहुँच गई है। मा ने सुना तो माथा ठोंककर रह गई!

(१६)

मोहिनी के घर छोड़कर ठाकुर साहब के यहाँ चले जाने के बाद मोहिनी की मा ने बाहर निकलना बन्द कर दिया। उसे ऐसा मालूम होता था कि मोहिनी ने उस कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं छोड़ा है। होने को तो मोहिनी की मा गाँव में पहले भी बदनाम थी। जिधर निकलती थी, उसकी ओर उँगलियाँ उठने लगती थीं। गाँव के लोग अपने घर की औरतों को उसकी परछाँई से दूर रखते थे। किन्तु मोहिनी की मा ने इन सब बातों की कभी परवाह नहीं की। सब कुछ होते हुये भी उसकी आत्मा इतनी नीचे नहीं गिर गई थी कि वह सिर उठाकर न चल सके।

पहले की बात और थी। लोगों के कहने-सुनने की मोहिनी की मा परवाह नहीं करती थी। वरन् जितना ही लोग काना-फूसी करते थे, उसकी ओर उँगलियाँ उठाते थे, उतना ही मोहिनी की मा सिर उठाकर चलती थी। उठी हुई उँगलियाँ उठी रह जाती थीं और मोहिनी की मा जैसे सब की छाती को रौंदती निकल जाती थी।

पर अब वैसी बात नहीं रही थी। पहले जितना अधिक सिर उठाकर मोहिनी की मा चलती थी, अब उतना ही अधिक

उसका सिर नीचा हो गया था। अपने 'पाप' को मोहिनी में प्रतिफलित होते देख उसके पाँव तले की धरती जैसे खिसक गई थी। उठते-बैठते दिन-रात अपने भाग्य को कोसते रहने के अतिरिक्त मोहिनी की मा के लिए अब और कोई काम नहीं रह गया था।

पतिया की अवस्था और भी विकट थी। सास के चौबीसों घण्टे के रोने-धोने और कोसने से वह तंग आ गई थी। मोहिनी के जाने के दो-चार दिन बाद तक अपनी सास की सेवा-टहल में उसने कोई कसर न उठा रखी। किन्तु लाभ इससे कुछ नहीं हुआ। मोहिनी की मा जब यंत्रवत् रोना और अपने भाग्य को कोसना शुरू करती तो पतिया के मन में यही होता कि वह भी सब कुछ छोड़कर भाग जाये। अकेली जान तो उसकी है ही, जहाँ जाएगी, मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट भर लेगी। लेकिन दूसरे ही क्षण फिर कुछ सोचकर इस तरह के विचारों को अपने दिमाग से वह दूर कर देती थी।

कभी-कभी फुरसत मिलने पर वह अपने पछौहाँ गाँव की भी याद कर लेती थी। वहाँ की दशा पर उसे रुलाई सी आती थी। अनायास ही क्या से क्या हो गया। उस रात अपनी मा के साथ खेत पर सोने क्या गई, एक आफत हो गई। उल्लू की बोली का अब भी जब कभी पतिया को ध्यान हो आता था तो उसका हृदय काँपकर रह जाता था।

मँझली की याद भी पतिया को कम न आती थी। चलते समय उससे मिल न सकी, इसका पतिया को दुख था। न जाने मँझली क्या समझती होगी। अजब है वह भी। अपने आदमी को इतना बुरा-भला कहती है मानो उसका मुँह तक

देखना नहीं चाहती। लेकिन यह सब तो जैसे ऊपर की बाते हैं। कहने को तो मॅझली यही कहती है कि उसका पति बहुत बुरा है। जब मारने लगता है तब यह नहीं सोचता कि कहाँ हाथ पड़ता है, कहाँ नहीं। फिर भी मॅझली के मन में लड्डु फूटते रहते हैं। वह जितना मारता है, उतना ही वह उसे प्यार करती है। कौन जाने, जिसे प्यार करने का अधिकार है, उसे मारने का भी अधिकार हो और......

मॅझली के पति में ऐसी क्या बात है, पतिया जानने और समझने का प्रयत्न करती, पर कुछ समझ न पाती। वह मॅझली से जानना चाहती, पर मॅझली उसके चिकोटी, काटकर रह जाती। वह उसे कुछ बताती नहीं, उल्टा, बनाने लगती। कहती— "देख, बहुत बाते न बना। मै सब समझती हूँ। ऊपर से तो पति की निन्दा करना, और फिर एक दिन, बिना मिले ही, चुपचाप ससुराल खिसक जाना। पति के पीछे मुझसे मिलना तक भूल गई और अब बाते ऐसी बनाती है मानो......!"

दिन में पतिया को काम से फुरसत नहीं मिलती थी। रात का समय ही ऐसा होता था, जब उसे दम लेने की फुरसत मिलती थी। अपनी खाट पर लेटकर वह तरह-तरह की बाते सोचती थी। मोहिनी जब तक घर में रही, भूले-भटके भी उसे अपने पति की याद न आई। किन्तु मोहिनी के जाते ही पति की चिन्ता उसे सताने लगी। पतिया बहुतेरा सोचती, अपने हृदय को टटोलकर देखती, पर कुछ समझ न पाती कि पति का ध्यान रह-रहकर उसे क्यों आने लगा है?

अपने हृदय में पतिया किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं करती थी। पतिया को ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि उसके

हृदय का कोई कोठा सूना है जिसे भरने के लिए उसे अपने पति की जरूरत हो। पेट की भूख का अनुभव वह अवश्य करती थी और इसके लिये हाड़तोड़ मेहनत भी वह करती थी। उसे अपने हाथ पैरों पर भरोसा था और वह जानती थी कि जहाँ भी वह रहेगी, अपने लिये दो रोटियाँ वह पा ही लेगी।

पतिया के हृदय में पति के लिये कोई स्थान नहीं था। वह जानती थी कि उसका पति यदि लौट भी आवे तो वह उसके साथ नहीं रह पावेगी। फिर एक बात और भी थी। पति के बारे में जो बहुत-सी बाते पतिया के हृदय में उठती थीं, उनमें एक विशेष प्रकार की चिन्ता अधिक उभड़ कर आती थी। वह सोचती थी कि न जाने वह कहाँ होगा? क्या करता होगा? पता नहीं, उसकी गुजर कैसे होती होगी? वह दुःख में होगा कि सुख में? यहाँ जैसे ही रङ्ग-ढङ्ग अगर अब भी उसके हुये तो फिर . ?

सोचते-सोचते पतिया अचकचा कर रह जाती। उसे बड़ा अटपटा लगता कि यह सब वह क्या सोचने लगी। आदमी चाहे तो क्या नहीं कर सकता। वह स्वयं जब हाथ-पाँव हिला-कर दो रोटियों का इन्तजाम कर लेती है तो वह भी कुछ न कुछ करते ही होंगे। बे-मतलब वह परेशान हो रही है। दिन भर काम करती है। रात को भी इन सब बातों के पीछे सोना छोड़ देगी तो कैसे बनेगा। हड्डियों को कुछ देर तो आराम मिलना चाहिये। उसे क्या करना है। पति आएँ तो भला, न आएँ तो भला। हाँ, आ जाएँ तो सास के जी को कुछ ढारस बँध सकती है, नहीं तो......!

इसके बाद एक झटके के साथ इन सब बातों को अपने से दूर कर सोने का उपक्रम वह करने लगती। धीरे-धीरे रोज का

काम करना और रात को सोकर हड्डियों की थकान मिटाना, यही पतिया का जीवन हो गया। किन्तु विधाता को जैसे यह भी मंजूर नहीं हुआ। पतिया के जीवन का तार कुछ कुछ बँध चला था कि एक दिन उसके पति ने एकाएक आकर फिर से अशान्ति का संचार कर दिया।

(१७)

पहली झलक में स्वामी अब पहचाना नहीं जाता था लेकिन नज़दीक से देखने में भ्रम नहीं होता था। उसका पहनावा एकदम साहबी ढङ्ग का था। सिगरेट पीने लगा था। न वह मखमली धोती थी, न वह कुरता। एक घुटन्ना, उसके नीचे मोजा-जूता। ऊपर कमीज-कोट और सर पर पुरानी गोल टोपी। इस पहनावे ने उसकी शकल बदल दी थी। शरीर से कुछ दुबला ज़रूर पड़ गया था, पर कमज़ोर नहीं हुआ था।

घर में जब उसने पाँव रखा, उस समय साँझ हो गई थी। वह साथ में कोई सामान न लाया था। मा ने उसे सबसे पहले देखा और कुछ देर देखती रही। फिर दौड़कर गले से लगा लिया। एक सुख की लहर बहने लगी। मा ने अपने इतने उमरवाले बेटे को उसी तरह गोद में बिठा लिया जैसे वह चार-पाँच साल का बालक हो। उसकी टोपी उतार डाली। गालों पर हाथ फेरते हुए उसको चूम लिया और बड़े प्यार से कहने लगी—"इस तरह नाराज़ नहीं हुआ जाता। इतना बड़ा हो गया, तुझे कुछ समझ नहीं आई। मेरा दिल रोज तेरे लिए व्याकुल रहता था। मैं रोज तेरा इन्तज़ार करती थी और उदास होकर दरवाजा बन्द कर लेती थी। तेरी गैरहाज़िरी में बहुत कुछ हो गया। मैं बीमार पड़ी। खाने को लाले पड़े। बकरियाँ

भूखी रहने लगीं। घर में कोई मर्द ही न रह गया। तरह-तरह की परेशानी होने लगी। तूने तो खबर तक न ली। तेरा कुछ पता न चला कि क्या करता है, कहाँ रहता है। कुछ बोलेगा भी या ऐसे ही गुमसुम बैठा रहेगा। यह साहबी पोशाक कहाँ से पाई ? नारायण का भी तुझे कुछ पता है ?"

स्वामी बोला—"कोई खास जगह मेरे रहने की नहीं है। जब जहाँ रहना पड़ता है, वहीं रहता हूँ। जब से यहाँ से गया, कई जगहों में रहना पड़ा। काम ही ऐसा है। एक जगह रहकर नहीं हो सकता। बड़ी-बड़ी दूर जाना पड़ता है। आमदनी भी खूब होती है ."

"अरे, मैं भी कैसी पगली हूँ," बीच में ही बात काटकर मा ने कहा, "तुझे देखकर मेरी सुध-बुध ही जाती रही। जब से आया है, ऐसे ही बैठा है। न कपड़े उतारे, न कुछ। उठ, कपड़े-वपड़े उतार। कुछ खा-पी ले। दुलहिन, थाली परोस !"

मा ने मिट्टी के घड़े से पानी लोटे में दिया। स्वामी ने हाथ पैर धोये और खाना खाने लगा। उसकी निगाह बार-बार पतिया के ऊपर पड रही थी। पतिया को वह इस तरह देख रहा था मानो आँखों ही आँखों में उसे लील जायगा।

पतिया का बस चलता तो वह उठकर रसोई में से चली जाती, पर यह सम्भव नहीं था। उसकी सास भी वहाँ आ गई थी। बड़े ध्यान से वह स्वामी को देख रही थी। जब उसने देखा कि स्वामी की थाली खाली पड़ी है और पतिया का इस ओर ध्यान नहीं है तो बोली—"देखती नहीं दुलहिन, थाली खाली पड़ी है। इतने दिनों बाद तो यह आया है, इस तरह इसे भूखा मारेगी तो यह फिर भाग जायगा !"

"हाँ मा, भागूँगा तो मैं ज़रूर" स्वामी ने कहा, "लेकिन इस बार साथ में तुम सबको भी भगाकर ले जाऊँगा !"

स्वामी की बात सुनकर मा कुछ अचकचा गई। खोई-सी आँखों से वह स्वामी की ओर देखने लगी। स्वामी ने कुछ सँभल कर कहा—"इस तरह क्या देख रही हो मा, तुम डरो नहीं। इस बार हम तीनों एक साथ भागेंगे !"

स्वामी जब खाना खा चुका तो मा ने उसके हाथ धुलाये और दोनों मा-बेटे एक साथ बैठकर बातें करने लगे। बातें करते-करते स्वामी अपने चारों ओर इस तरह देखने लगा मानो कोई खोई हुई चीज ढूँढ़ रहा हो। कुछ क्षण देखने के बाद उसने पूछा—"मा, मोहिनी नहीं दिखाई पड़ती। क्या ससुराल चली गई है ?"

स्वामी का यह प्रश्न सुनकर मा को ऐसा मालूम हुआ मानो किसी ने औचक में उसे ऊपर से नीचे धक्का दे दिया हो। मोहिनी की याद जब कभी मा को आती थी तो ऐसा लगता था मानो उसके जीवन का सम्पूर्ण कलुष मूर्तिमान् होकर उसके सामने खड़ा हो गया हो। आन्तरिक घृणा से मा अपनी आँखें बन्द कर लेती थी। इस समय भी ऐसा ही हुआ। स्वामी का प्रश्न सुनकर जैसे उसकी सम्पूर्ण चेतना लड़खड़ा गई। अनायास जी में आया कि कहे—भाड़ में जाये मोहिनी, पर फिर सँभल कर रुक गई। एक क्षण स्वामी की ओर देखने के बाद बोली—"मोहिनी की बात अभी रहने दे। पहले अपना हाल-चाल बता। इतने दिनों बाद तू आया है। कह तो सही, कहाँ कहाँ रहा ?"

"मैं सब जानता हूँ मा," स्वामी ने कहा, "मोहिनी के

बारे में मुझे सब मालूम हो चुका है। गाँव में जब मैंने पाँव धरा तो मेरा पहनावा देख कुछ का ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ। रूप-रङ्ग कुछ बदल गया है, इससे लोग पहचान न सके। तुम्हारे घर की ओर आता देख उनकी उत्सुकता और बढ़ी। लगे काना-फूसी करने और उँगलियाँ उठाने। उन्हें तो इन्हीं सब बातों में मजा आता है। समझे, कोई नया शिकार तुमने फँसाया है। जी में तो आया कि उनका मुँह नोच लूँ, लेकिन.... . ."

कहते-कहते स्वामी रुक गया और अपनी मा की ओर एकटक देखने लगा। कुछ देर बाद फिर बोला—"लेकिन घर पहुँचते-पहुँचते एक ने मुझे पहचान लिया। टोकते हुए बोला—अरे स्वामी भैया, तुम तो पूरे साहब बन गये हो। पहचान तक में नहीं आते! इतना कहने के बाद सबसे जरूरी खबर जो उसने पहले-पहल सुनाई वह थी मोहिनी के भागने की!"

इस समय अगर धरती फट जाती तो स्वामी की मा बिना किसी दुविधा के उसमें समा जाती। पर यह होने को नहीं था। धरती की जगह उसका हृदय जसे फटने की तैयारी करने लगा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसका दम घुट रहा हो। कनपटी की नसें तक-तक करने लगीं।

"बहुत बड़े बनते हैं ये लोग," स्वामी कह रहा था, "लेकिन तुम्हीं देखना मा, इनके घरों से कितनी मोहिनियों को बाहर निकालकर मैं ठिकाने लगाता हूँ।"

कुछ देर दोनों चुप रहे। स्वामी जैसे कोई बहुत दूर की और बहुत बड़ी बात सोच रहा था। उसकी मा अपने को सँभालने का प्रयत्न कर रही थी। उसका जी अब कुछ-कुछ

सँभल चला था और स्वामी की बातों का मतलब समझने का वह प्रयत्न कर रही थी।

"मोहि ी ने अच्छा किया जो भाग गई," स्वामी ने फिर कहा, "मैंने भी यही काम करना शुरू किया है। ग़रीब घरों की लड़कियों को भगाकर अमीरों के यहाँ पहुँचा देता हूँ। न सही उमर भर, कुछ दिन तो राजरानी की तरह सुख से वे रह पाती हैं!"

मा अभी तक ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही थी कि स्वामी कह क्या रहा है। एक आध बार जी में आया कि टोककर अच्छी तरह पूछे, पर फिर यह सोचकर रह गई कि ऐसा करना ठीक नहीं। मा को डर था कि जाने वह खुलकर बताये या नहीं। इसलिये उसने अपने मन में तय किया कि पतिया को वह सब बातं समझा देगी। बाद में उसे पतिया से सब बातें मालूम हो ही जायँगी।

"सच कहता हूँ मा," स्वामी ने अपनी बात को पूरी करते हुए कहा, "इस काम में मुझे पैसा भी खूब मिलता है। अब तुम लोगों को कोई कष्ट नहीं होगा।"

स्वामी की यह अन्तिम बात ऐसी थी जो पूरी तरह मा की समझ में आ गई। कहने लगी—"मेरा क्या है बेटा, मेरी उम्र तो जैसे-तैसे कट गई। एक पतिया की मुझे फिकर है। जब से इस घर में आई है—उसने न जाना कि सुख क्या होता है। "तूने भी उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया..."

"उसके बारे में मैंने सब सोच लिया है मा," स्वामी ने बीच में ही कहा—"अब तक जो हुआ, उसे जाने दो। आगे से ऐसा प्रबन्ध मैं कर दूँगा कि राजसुख वह भोगे!"

बहुत देर तक स्वामी राज-सुख की बातें करता रहा। ऐसा प्रतीत होता था मानो राज-सुख भोग जैसे उसके बायें हाथ का खेल हो। उसके मुँह से जितनी बातें निकलती थीं, वे सब राज-सुख के भोग में डूबती-उतराती होती थीं।

"अच्छा तो बेटा," अन्त में मा ने कहा, "पतिया इतनी देर से अकेली बैठी कुढ़ रही होगी। जाऊँ जरा उसके बाल-वाल सँवार दूँ। न जाने कब से उसके बालों ने चिकनाई का मुँह नहीं देखा है।"

स्वामी उठकर अपने कोठे में चला गया। मा पतिया के बाल सँवारने लगी। साथ में बहुत-सी बातें समझाती भी जाती थी। बाल सँवारने के बाद कुछ देर एकटक पतिया की ओर वह देखती रही। फिर बोली—"जा दुलहिन, जरा समझ से काम लेना। कहीं ऐसा न हो कि उलटी-सीधी बातें करने लगे।"

फिर पतिया का हाथ पकड़कर मा ने उठाया और राज-सुख-भोग के लिए उसे स्वामी के कोठे तक छोड़ आई। पतिया ने भीतर प्रवेश किया और एक जगह जमकर इस तरह खड़ी हो गई मानो उसे काठ मार गया हो!

(१८)

स्वामी अपनी मा से जी खोलकर बातें नहीं कर सका था। वह यह चाहता भी नहीं था कि वह अपनी मा को कुछ बताए। इसीलिए मा जब कुछ पूछती थी तो अधूरे-पूरे उत्तर वह देता था। ऐसा प्रतीत होता था कि मा को अंधकार में रखकर जैसे उसे कुछ सुख प्राप्त हो रहा हो। इस समय भी अपने कोठे में खाट पर लेटे-लेटे मा की बेचैनी की कल्पना कर मन ही मन एक विचित्र प्रकार के सन्तोष का वह अनुभव कर रहा था।

इसी समय पतिया ने कोठे में पॉव रखा और वहीं, दरवाजे के पास, इस तरह खड़ी रह गई मानो उसके पावों को किसी ने धरती में जड़ दिया हो। स्वामी ने उसकी ओर देखा और कुछ देर तक देखता रहा। फिर बोला—"चली न आओ, वहाँ क्यों खड़ी हो?"

पतिया पर स्वामी की बात का जैसे कोई असर नही हुआ। काठ की मूर्त्ति की तरह वह वही खड़ी रही। ऐसा प्रतीत होता था मानो वह कूक से चलनेवाला खिलौना हो। जब तक कूक भरी रही, चलता रहा। जब कूक समाप्त हो गई तो खड़ा रह गया।

"डरो नहीं," स्वामी ने फिर कहा, "बेखटके चली आओ...।"

पतिया की हालत बिल्कुल दूसरी थी। वह स्वामी के पास से दूर भागना चाहती थी—बिलकुल उसी तरह जैसे कि हत्यारे के चंगुल से छूटकर कोई निरीह जान भागती है और फिर भूलकर भी उसके पास जाना नहीं चाहती। लेकिन पतिया के लिए न भागना ही सम्भव हुआ और न स्वामी के पास जाना ही। स्वामी ने जब देखा कि पतिया के पाँव हरकत नहीं कर रहे हैं तो वह स्वयं उठा और पतिया के पास आकर बोला—"तुम डरती हो मुझसे। डरने की बात नहीं। तुम नहीं जानतीं कि स्वामी अब कितना बदल गया है!"

कुछ देर रुककर स्वामी ने फिर कहा—"मै जानता हूँ कि तुमने और मोहिनी ने कितना दुख सहा है। मोहिनी तो अब है नहीं। मेरे लिए तो तुम्हीं अब मोहिनी हो—सच जानो, तुम मेरी बहन के समान हो। तुम्हें लिवाने के लिए मैं आया हूँ और......"

"मै यहीं ठीक हूँ," पतिया के मुँह से आखिर बोल फूटा—"मुझे यहीं रहने दो। मैं कहीं नहीं जाने की।"

"तुम नहीं समझीं!" स्वामी ने कहा—"अपने साथ रखने के लिए तुम्हें मैं नहीं ले जा रहा हूँ। मेरे साथ एक दिन तुम्हारा ब्याह हुआ था, लेकिन समझ लो कि मैं मर गया। मुझसे कोई पूछेगा तो कहूँगा—यह मेरी बहन है। पति का मुँह भी न देखने पाई कि विधवा हो गई। इसने अब तक यह नही जाना कि जीवन का सुख..."

अपनी बात को अधूरी छोड़ स्वामी उँगलियाँ गड़ा-गड़ाकर पतिया के बदन को देखने लगा। पतिया स्वामी का हाथ झटक-कर बोली—"हटाओ यह सब। मुझे कुछ नहीं चाहिए। बहुत होगा तो मैं......"

स्वामी ने पतिया के मुँह पर हाथ रख दिया। फिर बोला—"मैं कहता हूँ, तुम्हारे दुःख के दिन अब चले गये। मै खुद तुम्हें अपने हाथ से बिदा करना चाहता हूँ और ऐसी जगह के लिए बिदा करना चाहता हूँ जहाँ राजरानी की तरह तुम रह सको। बस, एक बार मेरे साथ चली चलो।"

पतिया की समझ में न आ रहा था कि वह क्या जवाब दे। स्वामी की बाते उसे अच्छा खासा जंजाल प्रतीत हो रही थीं।

"तुम्हारा डरना ठीक है," स्वामी ने उसे समझाते हुए कहा, "दूध का जला छाँछ को भी फूँक-फूँककर पीता है। शुरू-शुरू में सभी को डर लगता है। कई लड़कियाँ तो बेहोश तक हो जाती हैं और......"

"कौन लड़कियाँ?" पतिया ने बीच में ही टोककर पूछा, "यह किनकी बात करने लगे?"

"मेरा तो काम ही यह है," स्वामी ने कहा, "तुम्हारी तरह और भी बहुत-सी दुखी बहनों को इसी तरह समझा-बुझाकर अपने साथ ले गया हूँ। अब वे सब सुख से रह रही हैं।"

"कहाँ ले जाते हो इन सबको ?" पतिया ने पूछा।

"ठहरो, तुम्हें अभी सब दिखाता हूँ," स्वामी ने कहा और अपने कोट की जेब से एक बंडल-सा निकाल लाया। फिर बोला, "चलकर उधर खाट पर बैठो तो तुम्हें सब दिखाऊँ !"

पतिया खाट पर बैठ गई। स्वामी भी पास में ही बैठ गया। बंडल डोरी से बँधा हुआ था। खोलने पर कार्ड साइज के अनेक फोटो निकल आये। एक फोटो दिखाते हुए स्वामी ने कहा—"देखती हो, इसकी क्या हालत है ?"

"बिलकुल भिखारिन मालूम होती है," पतिया ने कहा, "बाल उलझे हुए हैं, कपड़े फटे हुए हैं।"

"ठीक," स्वामी ने कहा, "अब इसे देखो। कुछ पहचानती हो ?"

"नहीं," पतिया ने कहा।

"यह वही भिखारिन है," स्वामी ने कहा, "देखो, अब कितनी अच्छी हालत में है।"

पतिया ने देखा और बहुत देर तक देखती रही। स्वामी ने बाकी फोटो भी पतिया के सामने रख दिये। फिर उनमें से एक को उठाकर पतिया की आँखों के निकट ले जाते हुए कहा—"इसे ध्यान से देखो।"

पतिया ने फोटो स्वामी के हाथ से ले लिया और देखने लगी। स्वामी ने कहा, "देखो, मोहिनी से कितना मिलता है। ऐसा मालूम होता है जैसे सचमुच मोहिनी का ही चित्र हो !"

"हाँ, है तो यह मोहिनी जैसा ही," पतिया ने कहा, "कौन है यह ?"

"अभी तुम्हें सब बताता हूँ," स्वामी ने कहा, "इसे मैंने उस समय पकड़ा था जबकि यह कुएँ मे डूबने जा रही थी।"

"कुएँ में डूबने जा रही थी !" पतिया ने चौंककर कहा, "क्यों......?"

"इसलिए कि पति की मार सहते-सहते तंग आ गई थी। मायके में इसके कोई रहा नहीं था जो भागकर वहाँ चली जाती। जब और कुछ नहीं सूझा तो कुएँ में डूबने चली।"

स्वामी कहते-कहते रुक गया और पतिया के मुँह की ओर देखने लगा। पतिया ने पूछा—"फिर क्या हुआ ?"

"इसके भाग्य अच्छे थे जो कुएँ में कूदने से पहले मेरी नजर इस पर पड़ गई। पीछे से जाकर मैंने इसे पकड़ लिया। जीवन से इस हद तक ऊब गई थी कि जीना ही नहीं चाहती थी। मैंने बहुत समझाया, पर नहीं मानी। आखिर हारकर मैंने कहा—अच्छी बात है। तुम जीना नहीं चाहती तो न सही। लेकिन आज न मरकर अगर कल-परसों मरो तो इसमें क्या कुछ बिगड़ जायगा। परमात्मा की कृपा से कुएँ यहाँ बहुत हैं। जब चाहो कूद पड़ना ...।"

"फिर उसने क्या कहा ?" पतिया ने धड़कते हृदय से पूछा।

"कहा कुछ नहीं," स्वामी बोला, "चुपचाप कुछ देर सोचती रही। इसके बाद उसका हाथ पकड़ मैं अपने ठिकाने पर ले गया। कपड़े उतार कर जब उसका बदन देखा तो सब जगह नीली धारियाँ पड़ी हुई थीं।"

"अब वह कहाँ है ?" पतिया ने पूछा।

"कहाँ है, यह जानकर क्या करोगी ?" स्वामी ने कहा, "हाँ, यह बात जरूर है कि कुएँ में कूदने की बात को वह अब बिलकुल भूल गई है।"

इसके बाद पतिया ने कुछ नहीं कहा। स्वामी भी चुपचाप बैठा रहा। दोनों न जाने क्या सोचने लगे। एकाएक स्वामी ने मौन भङ्ग किया। बोला—"इस चित्र को जब मैं देखता हूँ तो मोहिनी की याद मुझे हो आती है। इतने दिनों बाद जब मैं घर के लिए चला था तो यही सोचता रहा कि सबसे पहले मोहिनी से बातचीत करूँगा। लेकिन जब यहाँ आया तो मोहिनी की परछाईं भी देखने को न मिली।"

स्वामी कुछ देर के लिये रुक गया। सब कुछ होते हुए भी वह हृदय से मोहिनी को प्रेम करता था। पहली बार उसने जब घर छोड़ा था तो सबसे अधिक क्रोध उसे अपनी बहन मोहिनी पर ही हुआ था। गुस्सा तो उसे मा पर भी आया था, लेकिन मा के गुस्से का क्या था! उसका तो स्वभाव ही ऐसा हो गया था और चौबीसों घण्टे बड़बड़ाती रहती थीं। घर छोड़कर वह एकदम चला न गया था। गाँव के छोर पर एक पेड़ के नीचे बैठ गया था। न जाने क्यों उसे यह आशा थी कि मोहिनी उसे खोजती वहाँ तक जरूर आएगी। लेकिन जब वह नहीं आई तो उसे बड़ी निराशा हुई और वह.........

"मोहिनी भला यहाँ क्यों आने लगी," स्वामी ने झुँझलाकर अपने-आपसे कहा, "गाँव भर के लड़कों के साथ घूमने उसे फुरसत मिले तब न......?"

स्वामी को यह बात बहुत अखरती थी। उसे बहुत बुरा लगता था, जब वह देखता था कि मोहिनी उसका साथ छोड़

गाँव के भले-बुरे लड़कों के साथ धूल फाँकती फिरती है। इसके साथ-साथ स्वामी की झुँझलाहट का एक कारण और भी था। वह यह कि उसकी बहन तो सबके साथ घूमती-फिरती थी और गाँव में जितनी भी लड़कियाँ थीं, उनमें से एक भी स्वामी की ओर आँख उठाकर नहीं देखती थीं। कभी एक-आध बार कोई उसकी ओर देखती भी थी तो उसकी हँसी करने के लिए। यह बात स्वामी को बुरी लगती थी। वह सोचता—आखिर उसकी बहन को ही ऐसी क्या पड़ी है जो गाँव-भर में धूल फाँकती फिरती है!

जितना ही स्वामी इस बात को सोचता, उतना ही उसके हृदय में एक कसक-सी उठती और वह चाहता कि मोहिनी घर से बाहर पाँव न रखे। कई बार उसने मोहिनी को घेर-घार कर रखने का प्रयत्न भी किया। लेकिन घिरकर रहना मोहिनी ने नहीं सीखा था। स्वामी के हृदय में आग लग जाती थी उस समय, जब गाँव के लड़कों के साथ मिलकर स्वयं मोहिनी अपने भाई का मजाक उड़ाने लगती थी!

इस समय भी स्वामी के मन में मोहिनी की वह सब बातें घूम गईं। मोहिनी से मेल खानेवाले फोटो को हाथ में लेकर कुछ देर तक वह देखता रहा। फिर बोला—'मोहिनी नहीं जानती कि मैं उसे कितना चाहता हूँ। उसे अगर पता होता तो वह मुझसे इतनी दूर-दूर कभी न रहती और जब तक मैं लौटकर न आता, इस तरह घर छोड़कर न चली जाती। लेकिन ''

''लेकिन क्या?'' पतिया ने पूछा।

''लेकिन यह कि घर में कोई चैन से बैठने दे तब न?'' स्वामी ने कहा, ''जो तसवीरें तुमने अभी देखी हैं, जानती हो,

वे सब कौन हैं ? मोहिनी कोई अकेली थोड़ी ही है। उसकी तरह न जाने कितनी..."

मोहिनी के प्रसंग को अधूरा छोड़ पतिया को संबोधित कर फिर स्वामी ने पूछा—"अब तुम ही रह गई हो। मोहिनी के बदले तुम्हें ही मैंने अपनी धर्म की बहन बना लिया है। बोलो मेरी बात मानोगी न ?"

"हाँ, मानूँगी। जो तुम कहोगे, करूँगी," पतिया ने कहा और नीचे धरती की ओर देखने लगी।

"तुम बहुत अच्छी हो पतिया," स्वामी ने कहा और इसके बाद चुप हो गया। फिर उसने पतिया से कुछ नहीं कहा। बहुत देर तक दोनों एक ही खाट पर पड़े न जाने क्या-क्या सोचते रहे। नींद न स्वामी को आई, न पतिया को। स्वामी की तो जैसे मुंह-माँगी मुराद पूरी हो गई थी। उसे जैसे न अब कुछ कहने की जरूरत थी, न सुनने की। लेकिन पतिया के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी। रात जैसे पहाड़ बनकर उसकी छाती पर बैठ गई थी। कई बार उसके मन में आया कि न हो तो स्वामी से बातें ही करे, लेकिन साहस न हुआ और उसी प्रकार अपने मन को दबाये पड़ी रही।

(१९)

रात के तीसरे पहर तक पतिया की आँख न लगी थी, इसलिये दूसरे दिन बहुत देर तक वह सोती रही। स्वामी न जाने कब से उठकर बाहर घूमने चला गया था और मा पतिया के जागने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थी। कई बार उसके जी में आया कि पतिया को जाकर जगा दे, स्वामी के कोठे तक वह कई बार गई भी और कुछ देर तक,

मुग्ध भाव से, नींद में बेसुध पतिया को देखती भी रही, पर जगाया नहीं। रह-रहकर यही वह सोचती कि इतने दिनों बाद दोनों मिले हैं। रात-भर बातें करते रहे होंगे। जब सोयेंगे नही तो जल्दी आँख कैसे खुलेगी। बहुत दिनों बाद पतिया का भाग जागा है। राम करे, सदा इसी तरह सुहागिन बनी रहे।

पतिया के सिरहाने खड़ी मा यह सब बातें सोच रही थी, इतने में पतिया ने हलकी-सी कराह के साथ करवट ली। मा उसे हिलते देख दबे पाँय इस तरह भागी कि यदि पतिया ने देख लिया तो उसकी चोरी पकड़ी जायेगी। आँगन में जब पहुँच गई तब उसने सन्तोष की साँस ली और एक जगह बैठ-कर पतिया के जागने की प्रतीक्षा करने लगी। कुछ देर बाद उसका जी फिर ऊब चला और उठकर फिर स्वामी के कोठे में पहुँच गई। इस बार उसकी दृष्टि पतिया के बालों पर टिककर रह गई। जैसे बाल सँवार कर उसने पतिया को स्वामी के पास भेजा था, वे ठीक वैसे ही बने हुये थे। एक बाल भी इधर से उधर नहीं हुआ था। यह देखकर मा का हृदय मसोस उठा। वह सोचने लगी कि ऐसा तो नहीं होना चाहिए। पतिया तो इस तरह पड़ी है मानो इसके किसी ने हाथ तक न लगाया हो।

मा के हृदय ने झटका खाया और पतिया को पहले की तरह अधिक देर तक एकटक देखते रहना उसके लिए संभव नहीं रहा। लौटकर वह फिर अपने आँगन में आ गई और अपने मन को तरह-तरह से समझाने और भुलावे में डालने का प्रयत्न करने लगी।

"यह सब कुछ नहीं," उसने अपने मन में कहा, "इतनी जरा-सी बात भी मेरी समझ में न आई। इतने दिनों बाद दोनों

मिले हैं तो इसका यह मतलब नहीं कि दोनों मिलते ही एक-दूसरे से कुश्ती-सी लड़ने लग जाते। स्वामी पतिया के बाल नोचने लगता और पतिया उसके कपड़े फाड़ने लगती...।"

इसके बाद मा को अपनी बात पर खूब हँसो आई और वह अपने-आप खुलकर हँसने लगी। सारे घर में हँसी गूँज उठो। इस समय यदि मा को कोई देखता तो यही समझता कि वह पागल हो गई है। उसकी हँसी बन्द हुई उस समय जब पतिया सामने आकर खड़ी हो गई। हँसने की ध्वनि ने ही पतिया की नींद का भङ्ग कर दिया था।

"क्या बात है," पतिया ने पूछा, इस तरह क्यों हँस रही हो ?"

पतिया की आवाज सुनते ही उसकी सास की हँसी बन्द हो गई। इस समय उसकी मुखमुद्रा देखकर कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि एक क्षण पहले इस मुँह से हँसी की धारा फूट रही थी।

"बहुत दिनों बाद आज मुझे लगा कि इस घर में आदमी रहते हैं," सास ने बात बनाने का प्रयत्न करते हुए कहा, "सुबह से ही आज मेरा जी इतना हलका था कि हँसी अपने-आप फूटी पड़ती थी।"

"लेकिन मुझे देखते ही तुमने हँसना क्यों बन्द कर दिया। जब तक अकेली बैठी थीं, तब तक तो हँसती रहीं, मेरे आते ही ...."

"तो क्या मैं हँसती ही जाऊँगो ? तुझसे बातें भी तो करनी हैं। आ मेरे पास बैठ। सब बातें एक-एक करके बता।"

"क्या बताऊँ ?" अपनी सास के पास बैठते हुये पतिया ने पूछा।

"स्वामी की बात बता—कहाँ रहा, क्या करता है, अब तो कहीं नहीं जायगा ?" पतिया की सास ने एक साथ प्रश्नों की झड़ी लगा दी, "तुझसे और क्या-क्या बातें हुईं ? मेरे बारे में कुछ कहता था........?"

अपने बारे में तो उन्होंने कुछ नहीं कहा, न यह साफ-साफ बताया कि क्या करते हैं। बस, यही कहते रहे कि अब सबके अच्छे दिन आ गये हैं। बहुत दिन दुःख भोग लिया, अब ."

"अब वह खूब कमाने लगा है न !" सास ने उत्साहित होकर कहा।

"हाँ पैसों की अब उनके पास कमी नहीं।" पतिया ने कहा, "मोहिनी की बहुत याद करते थे। सारी रात उसी की बातें करते रहे। कहते थे—यह घर ही ऐसा है, जिसमें कोई नहीं रह सकता। मैं अगर कुछ दिन और न आता तो इस घर में कोई चिड़ी का पूत भी नहीं दिखाई पड़ता।"

"और क्या कहता था ?" सास ने व्यग्रता प्रकट करते हुए पूछा।

"मुझे अपने साथ ले जाने को कहते थे। मैंने तो बहुतेरा मना किया, पर वह नहीं माने। यह घर उन्हें बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। इसमें किसी को नहीं रहने देना चाहते। खुद भी आज-कल में चले जाने की बात कहते थे।"

"क्यों, यहाँ रहने में ऐसी क्या बुराई है ? इतने दिनों बाद आया है। मैं अब उसे कहीं न जाने दूँगी।"

"यही तो मैंने भी कहा," पतिया ने कहा, "पर उनके मन पर बात चढ़ी ही नहीं। उन्हें तो बस जाने की धुन सवार है।"

पतिया की सास का हृदय यह सुनकर ठक् से रह गया।

कुछ देर सोचने के बाद उसने कहा—"जरूर इसमें कोई न कोई बात है।"

"हाँ, कोई न कोई बात तो जरूर है," पतिया ने कहा और अपनी सास के मुँह की ओर देखने लगी।

'मुझे तो ऐसा लगता है कि स्वामी पर किसी ने कुछ कर दिया है," कहकर मा चुप हो गई। कुछ देर बाद फिर बोली—किसी तरह दो-चार दिन तक तू उसे रोके रह। यहाँ से दो-तीन मील दूर गढ़ी में एक बाबा जी रहते हैं। उनसे सब पता लग जायगा कि बात क्या है ?"

सास की बात सुनकर पतिया का हृदय आशंकित हो उठा। इस घर में स्वामी के साथ अकेली तो वह कभी न रहेगी। कौन जाने, वह किस समय क्या कर बैठे। नहीं, वह अपनी सास को कहीं नहीं जाने देगी। इसी से वह बोली—"मुझसे अकेले रहते नहीं बनेगा। जब तक वह हैं, तब तक तुम कहीं न जाओ।"

"दुत् पगली," सास ने कहा, "अपने पति के साथ तू रहेगी। मुझ बुढ़िया का तो अब तुम दोनों के बीच से चले जाना ही ठीक है।"

"नहीं-नहीं, तुम कहीं न जाओ। जब तक वह हैं, तब तक......"

पतिया की बात को सास ने सुन कर भी अनसुनी कर दिया। सास के चले जाने पर पतिया के हृदय में अनेक उलटी-सीधी आशंकाये उठने लगीं। जैसे-जैसे रात निकट आती जाती थी, उसकी आशंकाएँ और भी घनीभूत होती जाती थीं।

(२०)

डरने का कोई प्रत्यक्ष कारण न होते हुए भी पतिया का

हृदय बैठा जा रहा था। उसने बहुतेरा रोकना चाहा, पर उसकी सास चली ही गई। स्वामी जब बाहर से घूम-घामकर आया तो उसने देखा, पतिया के सिवा घर में और कोई नहीं है। उसने पूछा—"मा कहाँ है ?"

"अपनी एक सखी के यहाँ गई हैं," पतिया ने कहा, "जब से तुम यहाँ से गए, उनका घर से निकलना नहीं होता था। अब आ गए हो तो सोचा......"

"ठीक है," स्वामी ने कहा और फिर जैसे कुछ सोचने लगा। फिर थोड़ी देर बाद बोला—"मा बहुत समझदार हो गई हैं।"

"क्यों...?" पतिया ने कहा।

"सोचा होगा," स्वामी ने कहा, "बहू-बेटे के सुख में उनके घर में रहने से बाधा पड़ेगी, इसीलिए ....."

स्वामी ने अपनी बात को अपने आप अधूरा छोड़ दिया। उसे डर था कि कहीं पतिया बुरा न मान जाए। इस बार जब से वह आया है, पतिया का बहुत ध्यान रखता है। जाने अनजाने कोई ऐसी बात न उसके मुँह से निकल जाय, जिससे पतिया का जी दुखे, इसलिए वह सावधानी के साथ फूँक-फूँककर पाँव रखता है।

सुबह का गया स्वामी दोपहर को घर लौटा था। थोड़ी देर घर में रहा और फिर चला गया। जाते-जाते वह पतिया से कह गया—"देख पतिया, आज मेरा एक साथी आनेवाला है। वह बहुत बड़ा आदमी है। मेरे साथ ही वह टिकेगा। खाने-पीने को जरा ठीक से बना लेना।"

पतिया चुपचाप सुनती रही और स्वामी उसकी स्वीकृति

की प्रतीक्षा न कर चला गया। हाँ, जाते-जाते इतना और सूचित करता गया कि उसे आने में अगर कुछ देर हो जाय तो पतिया घबराये नहीं। अपने साथी को लेकर ही वह आयेगा।

पतिया का मन, भीतर ही भीतर, अपने आप, घुटा जा रहा था। स्वामी के सतर्क और शान्त व्यवहार ने उसे और भी विचलित कर दिया था। घर में और कोई नहीं है। न जाने कैसे आदमी को लेकर वे आयेंगे। उसे अगर पहले से मालूम होता तो वह सास को किसी तरह भी न जाने देती। मनाने पर भी सास न मानती तो वह भी उनके पीछे-पीछे चल देती। लेकिन अब...?

अँधेरी रात जैसे-जैसे निकट आती जाती थी, पतिया के हृदय का अँधेरा और भी घना होता जाता था। अपने हृदय को टटोलकर देखने का वह प्रयत्न करती, पर कुछ सुझाई न पड़ता था। ऐसी ही तो अँधेरी रात थी वह, जब पहली बार स्वामी से उसकी मुठभेड़ हुई थी। ऐसा ही घना अँधेरा था वह जो उसकी सुहाग रात को समूचा निगल गया था।

इसके बाद ध्यान आया पतिया को उस अँधेरी रात का जिसने उसकी मा को जान ली थी। आज की रात भी वैसी ही अँधेरी थी। अँधेरा घिरता ही चला आ रहा था और ऐसा प्रतीत होता था जैसे पतिया को कहीं का न छोड़ेगा।

जितना ही पतिया सोचती, उतना ही उसकी आशंकाएँ बढ़ती जातीं। सहसा कुंडी खटखटाने की आवाज सुनकर वह चौंक उठी। उसकी सम्पूर्ण चेतना जैसे उसका साथ छोड़कर भागने के लिये तैयार हो गई।

कुंडी खटखटाने की आवाज बराबर आ रही थी। साथ ही स्वामी की आवाज भी उसके कानों में पड़ी। जैसे-तैसे उठकर गई और उसने कुंडी खोल दी। पतिया ने कुडी इतनी सावधानी से खोली कि जरा भी खटका न हुआ—या फिर खटका हुआ भी तो वह स्वामी के कानों तक नहीं पहुँचा। कुंडी खटखटाने के बाद स्वामी अपने साथी से बात करने में लग गया था। पतिया कुंडी खोलकर चुपचाप खिसक आई।

कुछ देर बाद स्वामी ने कुंडी के स्थान पर किवाड़ों को थप-थपाने के लिये हाथ बढ़ाया। उसके हाथ का स्पर्श पाते ही किवाड़ खुल गये। पहले स्वामी ने घर में प्रवेश किया, फिर उसके साथी ने। साथी को अकेला छोड़ स्वामी पतिया के पास आया। बोला—"बहुत देर हो गई पतिया कुछ खाना-वाना बनाया है।"

"हाँ, सब तैयार है," पतिया ने कहा।

स्वामी और उसका साथी जब तक भोजन करते रहे, स्वामी पतिया की ही प्रशंसा करता रहा। पतिया ने अपनी इतनी अधिक प्रशंसा पहले कभी न सुनी थी। भोजन के बाद स्वामी ने अपने और अपने साथी के सोने का प्रबन्ध बाहर के कोठे में किया।

"तुम्हें डर तो नहीं लगेगा, पतिया ?" स्वामी ने पतिया से पूछा—"मैं तो अपने साथी के साथ सोऊँगा। घर में आज मा भी नहीं हैं। तू बिलकुल अकेली पड़ जायेगी।"

"अकेले रहते तो मेरा जीवन बीता ही है," अपने हृदय की वास्तविक स्थिति को स्वामी की आँखों से बचाने का प्रयत्न करते हुए पतिया ने कहा, "तुम चिन्ता न करो। मैं अकेली अच्छी तरह रह सकती हूँ।"

स्वामी अपने साथी के पास चला गया। स्वामी और उसका साथी दोनों इस तरह बातें करते रहे मानो इस घर में सिवाय उन दोनों के और कोई नहीं है। पतिया लेटी तो थी अपने कोठे में, लेकिन उसका मन और कान लगे हुए थे स्वामी और उसके साथी की बातों की ओर। अधूरे-पूरे वाक्य पतिया को सुनाई पड़ते थे। यह समझने में पतिया को देर नहीं लगी कि रुपये-पैसों की बातें दोनों कर रहे हैं। कितनी देर तक दोनों झगड़ते रहे। पतिया को ऐसा मालूम हुआ मानों दोनों कोई सौदा तय करना चाहते हैं, मगर कुछ कसर रह जाने के कारण दोनों एक मत नहीं हो पा रहे हैं। कई बार पतिया को यह भी सुनाई पड़ा कि सौदे के सिलसिले में उसका नाम भी लिया जा रहा है।

एकाएक स्वामी का स्वर धीमा पड़ गया। उसने अपने साथी से कहा—"कौन जाने, पतिया अभी तक जाग रही हो। धीरे-धीरे बातें करो। ऐसा न हो कि..."

इसके बाद स्वामी का स्वर जैसे कहीं खो गया। आगे उसने क्या कहा, पतिया कुछ सुन नहीं सकी। अब दोनों धीरे-धीरे बातें करने लगे। कभी-कभी एकआध शब्द सुनाई पड़ जाता। कुछ देर बाद वह भी बन्द हो गया। ऐसा मालूम होता था कि दोनों सो गये हैं।

पतिया के जी को चैन जरा भी नहीं थी। अनेक आशंकाओं से उसका हृदय घिर गया था। उसे ऐसा प्रतीत होता था मानो उस पर कोई नई विपत्ति आनेवाली है। लेकिन यह वह नहीं जानती थी कि उस विपत्ति की रूप-रेखा क्या होगी। एक तरह का अज्ञात भय उसके हृदय और मस्तिष्क पर छाता जा

रहा था। उसकी सम्पूर्ण चेतना जैसे एक जगह केन्द्रित होकर आनेवाली विपत्ति के पाँवों की आहट पकड़ने का प्रयत्न कर रही थी।

घण्टा भर तक पतिया इसी अवस्था में पड़ी रही। लेकिन उसे कहीं किसी प्रकार की आहट नहीं सुनाई पड़ी। चारों ओर भयंकर सन्नाटा छाया था। सन्नाटा इतना गंभीर मालूम होता था, मानो स्वयं पतिया के हृदय ने भी वातावरण के साथ-साथ सन्नाटा साध लिया हो। इस अवस्था में अधिक देर तक पड़े रहना पतिया को भी अखरने लगा। धीरे-धीरे उसने अनुभव किया कि उसका भय बेमतलब है। पतिया के मन और शरीर का खिचाव कुछ कम हुआ और वह सोने का उपक्रम करने लगी।

कुछ देर बाद पतिया को झपकी-सी आ गई। लेकिन उसका भीतरी मन जैसे अब भी चेतन था। शरीर जैसे उसका सोया पड़ा था और मन जाग रहा था। एकाएक उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके कोठे में किसी ने प्रवेश किया है। आहट उसे किसी प्रकार की सुनाई नहीं पड़ती थी, लेकिन फिर भी उसे ऐसा प्रतीत होता था कि कोठे में कोई आ गया है और उसकी ओर अबाध गति से बढ़ रहा है।

पतिया एकाएक कुछ निश्चय नहीं कर सकी कि वह सपना देख रही है या वास्तव में कोई उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा है। एक तरह से दम साधे वह पड़ी रही। उसके भय ने विचित्र रूप धारण कर लिया था। वह न तो इस हद तक दूर हुआ कि पतिया को नींद आ जाय और न वह इतना अधिक ही बढ़ा कि उसकी नींद एकाएक भंग हो जाय और वह देखे कि...

पतिया आँखे मूँदे पड़ी थी। कोठे में जो दिया जल रहा था, उसने भी अपनी आँखे मूँदने की पूरी तैयारी कर ली थी। तभी स्वामी कोठे में दबे पाँव आया। पतिया ने अनुभव किया कि उसके कोठे में कोई आ गया है। आगे बढ़कर स्वामी ने पहले दिया की बाती को चेतन किया और फिर पतिया के हाथ को उठाकर अपने हाथ में ले लिया।

अंतिम सीमा आने पर बुरा सपना देखनेवाले व्यक्ति की जो दशा होती है और अन्त में जिस प्रकार भय से वह चीख उठता है, ठीक उसी प्रकार एक चीख के साथ पतिया की आँखे भी खुल गईं। पतिया के माथे पर पसीने की बूँदे आ गई थीं और हृदय उसका बुरी तरह धक्-धक् कर रहा था।

"मै पहले ही कहता था पतिया," स्वामी ने उसकी कमर पर हाथ फेरते हुए कहा, "अकेले में तुझे डर लगेगा। मेरा साथी जब सो गया तो मुझसे रहा नहीं गया और मै चला आया।"

पतिया ने एक बार स्वामी के मुँह की ओर देखा और फिर सिर झुका लिया। उसका हृदय अभी तक धक्-धक् कर रहा था।

"तेरा लड़कपन अभी तक गया नहीं पतिया," स्वामी ने कहा, "भला इस तरह भी कोई चीखता है। मेरा साथी तेरी चीख सुनकर अगर यहाँ आ जाता तो..."

साथी का नाम सुनकर पतिया का हृदय चौंक उठा। कुछ सँभलकर फिर उसने कहा—"मैं सपना देख रही थी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि दो-चार आदमी मेरे कोठे में घुस आये हैं और मुझे जबर्दस्ती उठाकर......"

स्वामी यह सुनकर हँस पड़ा। फिर अपनी हँसी को रोककर

बोला—"सपना तो तुम सच्चा देख रही थीं। तुम्हें भगाकर ले जाने की पूरी तेयारी मैंने कर ली है। उठो, चलो।"

कहकर स्वामी पतिया को हाथ पकड़ कर उठाने का प्रयत्न करने लगा। पतिया एकाएक समझ न सकी कि बात क्या है। स्वामी ने उसका हाथ पकड़कर खड़ा कर दिया। इससे पहले कि पतिया कुछ सँभले, स्वामी ने कहा—"क्या इसी धोती को पहनकर चलोगी। नहीं, उतारो इसे, जल्दी करो, मेरे मुँह की ओर देखने से काम न चलेगा।"

स्वामी एकाएक पतिया की धोती पकड़कर खींचने लगा। पतिया एक चीख मारकर दोहरी हो गई। इसी समय स्वामी इस तरह चिल्लाया मानो उसके हाथ में बिच्छू ने काट लिया हो। स्वामी की आवाज सुनकर पतिया सहम गयी। इसी समय स्वामी की आवाज़ सुनकर उसका साथी भी आ गया। बोला—"क्या है स्वामी ?"

"कुछ नहीं," स्वामी ने कहा और फिर पतिया की ओर संकेत करता हुआ बोला—"देखते हो इसे, लाज के मारे दोहरी हुई जा रही है। मैं कहता हूँ......।"

स्वामी की बात बीच में ही रह गई। बाहर के दरवाजे को धड़धड़ाने के साथ-साथ आवाज आ रही थी—"जल्दी दरवाजा खोलो। नहीं तो हम दरवाजा तोड़कर..."

स्वामी और उसके साथी के कान खड़े हो गए। पतिया को छोड़ दरवाजे की ओर स्वामी बढ़ा। देखा कि कई लट्ठबन्द आदमी खड़े हैं। उनमें से एक ने कहा—"मोहिनी यहाँ आई है ? ठाकुर साहब के गहने पत्ते लेकर वह भाग गई। यहाँ आई होगी। उसे बाहर निकालो।"

स्वामी ने सुना तो हक्का-बक्का रह गया। उसने सँभलकर कहा—"नहीं, यहाँ मोहिनी नहीं आई। उसकी तो शकल तक मैंने नहीं देखी।"

"हमें तुम्हारी बात का यकीन नहीं। तुम एक ओर हट जाओ। हम तुम्हारे घर की तलाशी लेंगे।"

कहते हुए वे घर में घुस आए। सबसे पहले पतिया पर उनकी नजर पड़ी। जैसे-तैसे धोती लपेटे वह एक ओर खड़ी थी। समझे कि यही मोहिनी है। लेकिन जब मुँह उघाड़कर देखा तो उसे छोड़ दिया और घर के कोने-कोने की खोज करने लगे। स्वामी और उसके साथी को दो आदमियों की निगरानी में एक जगह खड़ा कर दिया गया।

स्वामी और उसके साथी दोनों को ठाकुर के आदमी अपने साथ पकड़कर लेते गए। उन्हें सन्देह था कि मोहिनी को स्वामी ने किसी दूसरी जगह छिपा दिया है। उनके चले जाने पर पतिया को अवसर मिला। बदन पर धोती लपेट वह घर से निकल गई।

(२१)

पतिया रात को ही अपने घर से निकल पड़ी थी। उसके पाँवों में न जाने कहाँ की शक्ति आ गई थी। वह बहुत तेजी के साथ चली जा रही थी और ऐसा मालूम होता था कि वह चलती ही जायेगी, कहीं रुकेगी नहीं। गाँव से बहुत दूर वह निकल गई थी और अभी तक उसके पाँवों ने रुकने का नाम नहीं लिया था। चलते-चलते एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसे कोई पुकार रहा है। एक क्षण के लिए उसके पाँव रुके और उस आवाज को अपने कानों का भ्रम समझ वह फिर आगे बढ़ चली।

"अरे भौजी, सुनो तो !" पतिया के कानों में फिर आवाज आई। वह खड़ी हो गई। देखा कि पास के एक झुरमुट में से निकल मोहिनी उसकी ओर चली आ रही है। पतिया को सहसा अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। एकटक मोहिनी के मुँह की ओर वह देखती रही।

"इस तरह क्या देख रही हो, भौजी," मोहिनी ने कहा— "मैं ही हूँ—तुम्हारी मोहिनी, स्वामी भैया की बहन।"

"अरे तुम यहाँ," पतिया ने कहा, "घर पर तो ठाकुर के आदमी लट्ठ लिए......"

"तुम्हें सब पता चल जायेगा," मोहिनी ने ठाकुर साहब के आदमियों की बात पर भय प्रदर्शित करते हुए कहा—"अभी तो यहाँ से चले चलो—दूर, बहुत दूर।"

मोहिनी और पतिया दोनों की यात्रा फिर शुरू हो गई। काफी देर चलने के बाद दोनों रुकीं और एक पेड़ के नीचे बैठ कर सुस्ताने लगीं। पतिया ने मोहिनी को स्वामी के घर आने के बाद से लेकर अपने भागने तक का सब हाल बता दिया। अन्त में उसने पूछा—"अब तुम बताओ, मोहिनी ! ठाकुर साहब के यहाँ तो तुम बडे सुख से रही होंगी।"

"हाँ, सुख से तो बहुत रही," मोहिनी ने कहा, "जैसे ही ठाकुर साहब ने मुझे देखा, बेटी कहकर अपने गले से लगा लिया और......"

"बेटी कहकर !" पतिया ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा।

"हाँ, उनके मुँह से बेटी सुनकर मैं भी हक्की-बक्की रह गई थी।" मोहिनी ने कहा, "इससे पहले किसी ने मुझे बेटी नहीं कहा था। गाँव में बूढ़े आदमियों की कमी नहीं थी। लेकिन

मुझे अपनी बेटी किसी ने नहीं बनाया। सब कोई यही समझते थे कि मै दो घड़ी खेल करने के लिये ही बनी हूँ, किसी की बेटी या बहन बनने के लिए नहीं। फिर ठाकुर साहब का किस्सा तो मैं अपनी मा से सुन चुकी थी। उन्होंने जब मुझे अपनी बेटी कहा तो .....''

कहते-कहते मोहिनी कुछ देर के लिये रुक गई। फिर बोली—''ठाकुर साहब ने जब देखा कि मुझे उनके बेटी कहने पर अचरज हो रहा है तो वह बोले—तुझे अचरज हो रहा है बेटी! लेकिन तू इन सब बातों को क्या जाने। तेरी मा ने भी तुझे न बताया होगा। अगर बता देती तो तुझे जरा भी अचरज नहीं होता। तू सचमुच में मेरी ही बेटी है।''

''तब तो ठाकुर साहब बड़े अच्छे निकले,'' पतिया ने कहा, ''मुझे ऐसा आदमी मिल जाये तो कभी भी उसे न छोड़ूँ।''

''अरे सुनो तो भौजी,'' मोहिनी ने कहा, ''मैंने भी यही समझा था कि ठाकुर साहब जैसा आदमी और कहीं ढूँढ़े न मिलेगा। उन्होंने बड़े लाड़-चाव से मुझे रखा। दूसरे-तीसरे रोज अपनी तिजोरी खोलकर दिखाते थे। तिजोरी में रखे गहने पत्तों को मैं मुग्ध भाव से देखती रहती थी। उनकी ओर संकेत करते हुए वह कहते थे—देखो, बेटी, इन गहनों की ओर देखो। अब तक तीन ब्याह मैंने किये। पहले यह गहने एक को चढ़े, फिर दूसरी को चढ़े और इसके बाद तीसरी को। चौथे ब्याह के लिये मैंने बहुत कोशिश की, पर कोई अपनी लड़की देने को तैयार न हुआ। आखिर हार कर बैठ रहा। इसके बाद जब कभी इन गहनों की ओर मैं देखता था तो मन

होता था कि मेरे कोई बिटिया होती तो उसे यह सब दे देता। परमात्मा की कृपा से अब तुम आ गई हो। सो तुम्हें यह सब सौंप कर मैं सुख से मर सकूँगा। मुझे अब जीने की अधिक साध नहीं है। दिन रात यही मैं सोचता हूँ कि ..”

कुछ देर जैसे साँस लेने के लिये मोहिनी चुप हो गई। पतिया बड़े ध्यान से मोहिनी की बातें सुन रही थी। मोहिनी को चुप होते देख उसने पूछा—“फिर क्या हुआ ?”

मोहिनी ने अपने कपड़ों में से एक पोटली निकाली। पतिया को दिखाते हुए कहने लगी—“इसे देख रही हो। इस पोटली में वे सब गहने हैं जो ठाकुर साहब की तिजोरी में रखे रहते थे और जिन्हें . ।”

“ये सब तो खुद ठाकुर साहब ही तुम्हें देनेवाले थे।” पतिया ने पूछा—“इन्हें लेकर तुम क्यों चली आईं ?”

“हाँ, ठाकुर साहब मुझे अपने-आप देनेवाले थे,” मोहिनी नें कहा—“लेकिन मरने के बाद, इससे पहले नहीं। जब तक वह मरते, मैं बुढ़िया हो जाती। खाने-पहनने की उमर तो अब है। जब कभी मैं ठाकुर साहब से इस तरह की बाते कहती तो वह उत्तर देते—इतनी जल्दी क्या है। थोड़ा धीरज धरो। इन सबको मैं अपनी छाती पर धर कर थोड़े ही ले जाऊँगा। सब तुम्हें ही मिलेंगे।”

“ठीक तो कहते थे,” पतिया ने कहा और मोहिनी के मुँह की ओर देखने लगी।

“बात तो ठाकुर साहब की ठीक थी,” मोहिनी ने कुछ देर रुककर कहा, “लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गये, उनकी यह आशंका जोर पकड़ती गई कि गहने-पत्तों के लिए कहीं मैं उन्हें

जहर न दे दूँ। उनकी इस आशंका का कोई सिर-पाँव न था और बेमतलब ठाकुर साहब खुद भी परेशान होते थे, दूसरों को भी परेशान करते थे। बाद में मुझे पता चला कि ऐसी ही आशंका उन्हें अपनी पत्नियों से भी हो गई थी। दिन-रात ठाकुर-साहब यही सोचते रहते कि उनकी पत्नी अगर कुछ दिन और जीती रही तो उन्हें जरूर ज़हर दे देगी। आखिर हुआ यह कि स्वयं उन्होंने ही अपनी पत्नी को जहर दे दिया। इस डर से कि कहीं वह उनकी जान न ले ले, उन्होंने पहले ही उसका काम तमाम कर दिया। इस तरह तीन-तीन पत्नियाँ इन गहनों के पीछे चल बसीं......!"

"तब तो बहुत बुरे आदमी हैं वह!" पतिया ने कहा। मोहिनी की बातें सुनकर पतिया की भौहों में बल पड़ गये।

"इसीलिए तो मैं भाग आई," मोहिनी ने कहा, "और साथ में ठाकुर साहब की तिजोरी भी खाली करती आई। ठाकुर साहब ने जब देखा होगा तो उनकी जान ही निकल गई होगी!"

अपनी बात समाप्त कर मोहिनी कुछ देर सामने की ओर देखती रही। फिर बोली—"पतिया, अब हम दोनों सदा एक साथ रहेंगे। बचन दो, अब तुम मेरा साथ कभी न छोड़ोगी।"

पतिया की मौन स्वीकृति पाकर मोहिनी ने उसे अपने हृदय से लगा लिया और फिर दोनों अपने अलक्षित पथ को लक्ष्य में रख चल पड़े।

(२२)

पतिया ने मोहिनी का वादा पूरा किया और पूरी तरह उसका साथ दिया। जब तक पास में गहनों की गरमाई रही, तब तक पथ लक्षित है या अलक्षित, इसकी कोई विशेष चिन्ता

न मोहिनी को रही और न पतिया को। दोनों यही समझतीं कि उन्हें किसी से कुछ लेना-देना नहीं है और न-ही किसी का कोई विशेष ध्यान रखना है। लेकिन जब हाथ खाली हो गए तो उन्होंने देखा और अनुभव किया कि इस तरह की मनमानी नहीं चलेगी। समाज में रहने के लिए उन्हें समाज का ध्यान रखना होगा और ....

अनेक बार इधर-उधर की ठोकरें खाने के बाद मोहिनी और पतिया अपने एकमात्र ठिकाने पर आ गईं। मोहिनी ने समाज के बीच अपनी 'मोहिनी' को प्रतिष्ठित करने के लिए सरकारी लाइसेंस प्राप्त किया और बाजार का एक कोठा लेकर दोनों रहने लगीं।

मोहिनी की ओर शीघ्र ही नगर के युवकों का ध्यान आकर्षित हुआ। इसका एक कारण यह था कि अपने को मोहक रूप में प्रदर्शित करने की कला में वह विशेष रूप से दक्ष थी। इसके अतिरिक्त उसमें एक बात और थी। वह यह कि चोर-दरवाजे से रूप के खिलाड़ियों के हृदय में प्रवेश करने और फिर वहाँ से बेदाग निकल जाने में भी मोहिनी बहुत होशियार थी। वह सब कुछ करती थी, लेकिन अपना दामन बचाते हुए।

मोहिनी ने अपने लिए एक सीमा निर्धारित कर ली थी और उस सीमा का वह पूरा ध्यान रखती थी। ठीक उस समय जब कि रूप के खिलाड़ी यह समझते कि मोहिनी को उन्होंने अपने हाथ में कर लिया है और यह उनकी इच्छा पर निर्भर है कि जब चाहें उसे अपनी चुटकी में मसल दें, वे देखते कि मोहिनी उनके हाथ और आँखों को धोखा दे, दूर खड़ी, अपनी मोहक हँसी हँस रही है!

पतिया की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ा था। चौका-बरतन करते उसका जीवन बीता था और अब भी यही वह करती थी। मोहिनी के कोठे पर आने-जानेवाले लोग उसे मोहिनी की दासी के रूप में जानते थे। मोहिनी भी सबके सामने पतिया से इसी तरह का बरताव करती थी, मानो वह दासी ही हो। लेकिन......

मोहिनी ने पतिया के साथ अपना पुराना खेल खेलना शुरू कर दिया था। स्वामी जिस तरह के कपड़े पहनता था, मोहिनी ने वैसे कपड़े बहुत-से बनवा लिए थे। रूपशिखा के चारों ओर मँडरानेवाले पतिंगों से छुट्टी मिलने पर वह पतिया का सिंगार करती। उसे वे सब कपड़े पहनाती और इसके बाद पतिया को सामने बैठाकर प्रेम का अभिनय करती। आवेश में आकर उसे अपनी दोनों बाँहों में कसकर जकड़ लेती और पतिया की उदासीनता से असन्तुष्ट हो, छिटककर अलग हो जाती। मोहिनी के नथुने फड़कने लगते, भौंहों में बल पड़ जाते, होठों के दोनों सिरों पर झाग आ जाते और पतिया को जली-कटी सुनाने लगती।

"तुम तो पत्थर हो भौजी, बिल्कुल पत्थर!" झुँझलाकर मोहिनी कहती—"यह देखो, मेरा हृदय कितनी जोर-जोर से धड़क रहा है। ऐसा मालूम होता है मानो आग लग रही हो!"

कभी-कभी मोहिनी का क्षोभ और भी बढ़ जाता था। इसके मन में होता कि पतिया को रुई की तरह धुन डाले। एक बार पतिया को इस जोर से धक्का दिया कि उसके गहरी चोट आ गई। बाद में मोहिनी बहुत पछताई। आँखों में आँसू भर कहने लगी—"मुझे माफ करना भौजी। कुछ समझ नहीं

पड़ता कि मेरे हृदय को क्या हो गया है । मन में होता है कि सारी दुनिया को तोड़-मरोड़ कर फेंक दूँ ।"

मोहिनी के हृदय में वर्त्तमान जीवन के प्रति असन्तोष घर करता जा रहा था । गाँव के उन्मुक्त वातावरण की उसे रह-रह कर याद आती थी । उसके मन में आता था कि सब कुछ छोड़-छाड़ कर चल दे । पर कुछ सोच कर रह जाती थी ।

स्वामी की याद भी मोहिनी को बराबर आती थी । उसी के कारण वह मुसीबत में पड़े । ठाकुर साहब के गहने चुराकर यदि वह न भागी होती तो कुछ भी न होता । किसी को पता भी न चलता कि वह क्या करते हैं, क्या नहीं । गहनों का तो कुछ पता नहीं चला, लेकिन चित्रों के बंडल ने दूसरा ही झगड़ा खड़ा कर दिया । स्वामी और उसका साथी दोनों मिलकर स्त्रियों को इधर-उधर बेचा करते थे । स्वामी के साथ-साथ उसको भी सजा हो गई ।

पतिया के हृदय में भी अब स्वामी के प्रति रोष का भाव नहीं रहा था । मोहिनी के साथ-साथ वह भी स्वामी के लिए बेचैन रहती थी । स्वामी ने उनके जीवन में जो शून्य छोड़ दिया था, रह-रह दोनों ही उसका अनुभव करती थीं ।

"क्या बताऊँ मोहिनी दीदी," पतिया कहती, "तुम्हारे भैया ने मुझे फोटो दिखाए थे, उनमें एक तुमसे बिल्कुल मिलता जुलता था । कहते थे—मोहिनी को मैं कभी नहीं भूल सकता ।"

मोहिनी के हृदय में भी स्वामी ने गहरा घर कर दिया था । उस दिन की वह प्रतीक्षा कर रही थी जब स्वामी छूट कर आयेगा ।

"जब तक भैया छूट कर नहीं आते," मोहिनी कहती—"तब तक हम यहाँ हैं । भैया के आने पर यह सब छोड़ कर हम यहाँ से चल देंगे ।"

(२३)

मोहिनी और पतिया के जीवन का शून्य अब भर गया है। जेल से छूटने पर स्वामी ने देखा कि मोहिनी और पतिया फाटक पर खड़ी उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं। देखते ही तीनों एक-दूसरे के इतना निकट आगए कि फिर कभी अलग नहीं हुए।

भैया को देखकर मोहिनी के हृदय का सारा विक्षोभ आँसू बन कर बह गया। भाई-बहिन के इस मिलन को देख पतिया को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह स्वर्ग में पहुँच गई है।

"अब ऐसा जोखिम का काम कभी न करना भैया," मोहिनी ने कहा, "तुम्हारे बिना हम......"

"नहीं-नहीं," स्वामी ने कहा, "अब हम तीनों एक-दूसरे से कभी अलग नहीं होंगे।"

मोहिनी, पतिया और स्वामी—तीनों ही अब एक साथ रहते हैं—रहते नहीं, बाहर साथ-साथ घूमते हैं। एक जगह घर-गृहस्थी बनाकर बसने के लिए उन्होंने जैसे जन्म नहीं लिया था। कुछ अन्तर के साथ मोहिनी और पतिया ने अपना पुराना खेल-खेलना फिर शुरू कर दिया है। पतिया को वह पुरुषों के कपड़े पहनाती है, खुद सज-धज कर पतुरिया बनती है, स्वामी गले में हार्मोनियम लटका कर चित्र को फिनिशिंग टच दे देता है। पतिया प्रेमी बनती है, मोहिनी प्रेमिका और फिर दोनों प्रेम की इतनी सजीव नकल उतारते हैं कि जो देखता है, मुग्ध होकर रह जाता है। स्वामी अपना हार्मोनियम सँभालता है और मोहिनी झूम कर गा उठती है—तेरे बिना सूना है बुलबुल का बसेरा!"

रोमांस

यौवन प्रगति का सूचक है। साहित्य भी यहीं से शुरू होता है और जीवन भी। इस अवस्था में लेखनी के धनी सभी हो जाते हैं—यदि और किसीलिए नहीं तो प्रेम-पत्र लिखने के लिए ही। जो खुद नहीं लिख पाते, वे दूसरों से लिखवाते हैं। प्रेम-पात्र हो या न हो, प्रेम-पत्र अवश्य होते हैं। अपने लिखे हों, चाहे दूसरे के।

आप शायद विश्वास न करें, लेकिन बात सही है। अपने एक मित्र को मैं जानता हूँ। प्रेमिका उनके पास नहीं थी, फिर भी वह प्रेम-पत्र लिखते थे। अपने पिता की जेब से वह पैसों की चोरी करते, खुशी-खुशी बाज़ार जाते और बढ़िया-से-बढ़िया पत्र लिखने के कागज और लिफाफे खरीद लाते। इसके बाद, दीन दुनिया से बेखबर हो वह प्रेम-पत्र लिखना शुरू करते। लिखने

के बाद, बड़ी एहतियात से, गुप्त-निधि की तरह, उन्हें अपने ट्रंक में रख छोड़ते।

एक-दो नहीं, इस तरह सैकड़ों पत्र उन्होंने लिख-लिखकर अपने पास रख छोड़े थे। एक दिन बहुत उमङ्ग में थे। बाते करते-करते मुझसे कहने लगे—'आओ, तुम्हें एक चीज दिखाऊँ।'

अगले ही क्षण उन्होंने मेरे सामने अपने प्रेम-पत्रों को नुमाइश लगानी शुरू कर दी। मैंने कहा—'भई खूब, सूत न कपास, जुलाहे से लट्ठमलट्ठा। पहले प्रेमिका की तो खोज की होती, इसके बाद ही प्रेम-पत्र लिखते।'

मित्र ने एक क्षण मेरी ओर देखा। फिर बोले—'तुम क्या समझते हो कि मुझे प्रेमिका मिलेगी ही नहीं। यह तो पहला कदम है, इसके बाद देखना...!'

कई वर्ष बीत गये। मित्र कहीं रहे, मैं कहीं। जब भेंट हुई तो मालूम हुआ, जीवन की यात्रा अब तक अकेले ही तय कर रहे हैं। मुझे उनके सैकड़ों प्रेम-पत्रों की याद हो आयी। क्या सबके सब बेकार गये। पूछा—'तो क्या अकेले रहकर ही जीवन बिताने की प्रतिज्ञा कर ली है?'

'तुम लोगों की तरह आँखें बन्द कर अगर मैं भी अपने गले में फन्दा डालने के लिए तैयार हो जाता' मित्र ने कहा—'तो एक दो नहीं, अब तक दरजनों विवाह मेरे हो जाते। बहुत दिनों तक घरवाले मेरे पीछे पड़े रहे, पर मैंने किसी की नहीं सुनी। मैं तो पहले प्रेम करना चाहता हूँ, इसके बाद अगर जरूरत हुई तो विवाह!'

'एक काम करो मित्र,' उनकी ओर देखते हुए मैंने कहा।

'वह क्या?' मित्र ने पूछा।

'समाचार-पत्रों में एक विज्ञापन छपवाओ'। मैंने कहा—'उस विज्ञापन में लिखो कि आवश्यकता है एक ऐसी युवती की, जिसे प्रेम करने के लिए अब तक कोई न मिला हो और जो, केवल प्रेम करने के लिए ही प्रेम करने को तैयार हो—अर्थात् जो अन्त में विवाह होनेकी आशा न रखती हो ?'

'तुम तो मजाक करते हो !' मित्र ने कहा—'बनाने के लिए क्या एक मैं ही बचा हूँ जो...'

'मजाक नहीं, सच कहता हूँ'—गम्भीर मुद्रा बनाकर मैंने कहा—'जरा विज्ञापन देकर देखो तो...'

आखिर विज्ञापन छपाया गया और मित्र को प्रेम-पत्र लिखने में दक्ष एक युवती भी मिल गयी। उस युवती का नाम था कमला। मेरे मित्र की तरह उसे भी कोई प्रेमी नहीं मिला था और इसकी कोई आशा नहीं थी कि भविष्य में भी मिलेगा। कारण यह कि उसका चेहरा देखकर प्रेम करने को नहीं, घृणा करने को जी चाहता था। वह अगर चाहती तो उसकी जोड़ी का ही कोई युवक उसे मिल जाता। असुन्दर युवकों की इस संसार में कोई कमी नहीं है। मगर नहीं, वह तो किसी गुलफाम से ही प्रेम करना चाहती थी।

कमला की अवस्था भी ठीक वैसी ही थी जैसी कि मेरे मित्र की। वह बहुत चाहती थी कि उसे कोई प्रेम-पत्र लिखे, लेकिन प्रेमियों का जैसे अभाव हो गया था। सबसे बड़ी बाधा थी स्वयं उसका रूप। रूप का सूत्र पकड़कर हृदय का आदान-प्रदान करने में सुविधा होती है। एक ही झलक में पलक-पाँवड़े बिछानेवाले मिल जाते हैं। लेकिन इसके अभाव में सब कुछ होता है, प्रेमी नहीं मिल पाता। अपनी कन्या के दुःख से दुखी आँखों में आँसू भरे माँ सिरहाने खड़ी रहती है, करुणा

का दामन पकड़ कर सिर पर हाथ फेरने के लिए पिता भी आ जाते हैं, मगर जिसे आना चाहिए, वह दूर-ही-दूर रहता है!

कमला के साथ ही भी ऐसा हुआ। प्रेम-पात्र पाने की चाह उसके हृदय के भीतर उमड़-घुमड़ कर रह गई। एक दिन बैठे-बैठे उसे एक उपाय सूझ गया। मित्र की तरह उसने भी प्रेम-पत्र लिखने शुरू किये। इन पत्रों को वह स्वयं लिखती, लिखने के बाद उन्हें लिफाफे में बन्द करती और फिर, लिफाफे पर अपना ही पता लिख कर, डाकखाने में छोड़ देती और बड़ी उत्सुकता और बेचैनी के साथ, डाकिये के आने की प्रतीक्षा किया करती। इन पत्रों में वह ऐसी-ऐसी बातें लिखती थी कि जिन्हें कोई प्रेमी शायद स्वप्न में भी नहीं सोच सकता..!

कमला की स्थिति अब, पहले की अपेक्षा बहुत पलट गयी थी। अपनी सखी-सहेलियों के बीच इन प्रेम-पत्रों का वह बाकायदा प्रदर्शन करती थी। पहले अपनी सखियों की प्रेम-सम्बन्धी बाते सुनकर और उनकी ओर राह-चलते युवकों को आकृष्ट होते देखकर कमला के हृदय में ईर्ष्या की आग-सी लग जाती थी। किन्तु इन प्रेम-पत्रों ने अब जैसे पासा ही पलट दिया था। पहले कमला अपनी सखी-सहेलियों से ईर्ष्या करती थी, अब उसकी सखी-सहेलियाँ उससे ईर्ष्या करने लगीं।

इस तरह कमला के लिखे हुए सैकड़ों प्रेम-पत्र उसके पास जमा हो गये। इन प्रेम-पत्रों का प्रयोग वह अपनी सखी-सहेलियों के हृदयों को गुदगुदाने और लजाने के लिये करती थी। लेकिन सन्तोष के लिए इतना ही तो पर्याप्त नहीं होता। संख्या की दृष्टि से अनगिनती पत्रों के स्थान पर यदि किसी सचमुच के प्रेमी का एकाध पत्र भी उसे मिल जाता तो......!

सुबह का समय था। रात करवटें बदलते बीती थी। कमला का किसी काम में जी नहीं लग रहा था। अनमनी-सी बैठी समाचार पत्र के पन्ने पलट रही थी। समाचार-पत्र में वैसे पढ़ने को तो बहुत कुछ रहता था, किन्तु कमला सबसे पहले विवाह-विज्ञापन ही देखा करती थी। एकाएक उसकी नजर मेरे मित्र के विज्ञापन पर पड़ी। उसे पढ़ते ही उसने एक पत्र लिखा कि उसे सब बातें स्वीकार हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि दोनों एक दूसरे से मिलने की चेष्टा न करें। प्रेम-पत्रों के आदान-प्रदान तक ही दोनों अपने को सीमित रखें। पहला कदम यही रहे—इस आशा के साथ कि हो सकता है, अन्तिम कदम भी यही सिद्ध हो।

मेरे मित्र ने इसे स्वीकार कर लिया। कमला के साथ उनका पत्र-व्यवहार होने लगा। अब तक जो पत्र उन्होंने लिख-लिखकर रख छोड़े थे, वे सब बहुत लाभदायक सिद्ध हुए। कमला भी उत्तर देने में पीछे नहीं रही। प्रेम-पत्रों का यह आदान-प्रदान बड़े उत्साह और उमंगों के साथ चला। मित्र जब मिलते तो बहुत खुश दिखाई पड़ते। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता मानो सातों जहान की बादशाहत उन्हें मिल गयी हो।

लेकिन उस दिन जब वह आये तो बहुत उदास थे। देखने में ऐसा प्रतीत होता था मानो अभी लड़खड़ा कर गिर पड़ेंगे। मैंने पूछा—'कहो मित्र, आज इतने उदास क्यों हो ?'

'क्या बताएँ', मित्र ने कहा—पन्द्रह दिन से उसका कोई पत्र नहीं आया। पहले तो ऐसा कभी नहीं हुआ। हम दोनों ने पत्र-व्यवहार इस शर्त पर शुरू किया था कि एक दूसरे से मिलने की कभी चेष्टा नहीं करेंगे। लेकिन अब तो मुझसे नहीं रहा जाता। उस शर्त का उल्लंघन कर.. .. '

मित्र इतने अधिक बेचैन और सम्भवतः कमला से मिलने के लिये इतने अधिक उत्सुक थे कि मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही चले गये।

(२)

अपने अनदेखे प्रेमी को पत्र लिखकर उसे डाकखाने में छुड़वाने के इरादे से कमला कमरे से बाहर निकला ही थी कि उसकी माँ ने पुकारा—'कमला इधर आ।'

पत्र को अपने आँचल में छिपाते हुए कमला माँ के पास पहुँची। कहा—'क्या है, माँ ?'

माँ ने एक पत्र कमला के ऊपर पटकते हुए कहा—'यह क्या है ?'

कमला के नाम आया प्रेम-पत्र माँ के हाथ में पड़ गया था। हुआ यह कि सखी-सहेलियों में कमला अपने प्रेम-पत्रों का इतना अधिक प्रदर्शन करती रहती थी कि उसकी एक सखी बुरी तरह उससे ईर्ष्या करने लगी। कमला की माँ से उसने सब कुछ कह दिया। कमला की माँ ने बातें अपने मन में रख लीं और उचित अवसर की खोज में रहने लगीं। आखिर माँ के हाथ में कमला के नाम आया एक पत्र पड़ा ही गया। माँ भी पत्र पढ़कर आग-बबूला हो गयीं और उस बेचारी कमला को खरी खोटी सुनाने लगीं।

'शकल तो देखो जैसे चुड़ैलों की—देखकर तबीयत खुशी हो जाय !' माँ ने कहा—'तिसपर यह हाल है। अगर परमात्मा ने कहीं रूप दिया होता तो न जाने क्या करती !'

घर में अच्छा-खासा बावेला उठ खड़ा हुआ। कमला के बदन में काटो तो खून नहीं। ऐसा प्रतीत होता था मानो सारा

शरीर सुन्न पड़ गया हो। चुप-चाप अपने कमरे में जाकर पड़ रही। आँखों से आँसू बहने लगे। जब जी जरा हल्का हुआ तो सोचने लगी—'जब बात यहाँ तक बढ़ गयी है तो क्यों न उसे पूरा ही कर डालें!'

यह सोचकर कमला उठी। लेकिन जब पत्र लिखने बैठी तो उसे यह देख बड़ा आश्चर्य और दुःख हुआ कि उसका हाथ काम नही दे रहा है। एक बार दो बार कई बार कमला ने पत्र लिखने का प्रयत्न किया। मगर व्यर्थ। उसका वह हाथ—जिससे कि वह प्रेम-पत्र लिखती थी—मानो किसी समझ में न आनेवाले भय से काँप कर रुक जाता था। उसके हाथ की अँगुलियों में जैसे जान नहीं रह गयी थी।

प्रयत्न करने पर भी जब वह पत्र न लिख सकी तो फिर अपने बिस्तर पर आकर पड़ गयी। उसके हृदय में एक विचित्र प्रकार का द्वन्द उठ खड़ा हुआ। सबसे अधिक गुस्सा आ रहा था उसे अपनी माँ पर। माँ के कारण ही उसे आज यह दिन देखना पड़ रहा है।

जब नहीं रहा गया तो बिस्तर से उठी और माँ के पास जाकर बोली—'लो माँ, तुम जो चाहती थीं, वह हो गया। अब न मैं किसी को पत्र लिख सकूँगी और न घंटों तक तुम्हारे पाँव दाब सकूँगी!'

'क्यों, क्या हुआ है तुझे?' माँ ने पूछा।

'तुम्हारी वाणी की गाज गिरी है,'—कमलाने कहा—मेरा हाथ सुन्न हो गया है। अब वह किसी काम का नहीं रहा।

'बस, सुन्न होकर रह गया'—माँ ने कहा—मैं तो समझी थी कि कटकर गिर गया होगा!'

'होना तो ऐसा ही चाहिये था'—कमला ने कहा—'अहिल्या का किस्सा तो तुमने सुना ही होगा। उसका तो सारा शरीर पत्थर का हो गया था, मेरा तो खैर, एक हाथ ही सुन्न हुआ है।'

माँ ने पहले तो यह समझा कि कमला उसे चिढ़ाने के लिए इस तरह की बाते कर रही है। किन्तु बाद में जब उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव में कमला का हाथ काम नहीं करता तो वह चिन्तित हो उठी। हिर-फिरकर एक ही बात माँ के हृदय में उठती थी। वह यह कि कमला का विवाह कैसे होगा। एक तो परमात्मा ने उसे गढा ही कुछ अजीब ढङ्ग से है, तिसपर उसका एक हाथ भी सुन्न हो गया।

विवाह की यह चिन्ता माँ के हृदय का बोझ बन चला और ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि यही हाल रहा तो कमला के हाथ का तरह उसका हृदय भी एक दिन सुन्न हो जायगा। एकाध बार—बल्कि कहना चाहिये कि अनेक बार—माँ को उस युवक का भी ध्यान आया जिसे कमला प्रेम-पत्र लिखती थी। जब और कुछ नही सूझता था तो माँ उसी युवक के बारे में इतना अधिक सोचने लगती थीं जितना अधिक कि शायद स्वयं कमला ने भी न सोचा हो।

एक दिन माँ ने कमला को अपने पास बुलाया। पास बिठाकर उसके सिरपर हाथ फेरते हुए कहा—'कमला, मुझसे बड़ी भूल हुई जो तुझे जरा-सी बात के लिये इतना अधिक भला-बुरा कहा। सच तो यह है कि जबसे तेरे बाबूजी (कमला के पिता) की मृत्यु हुई तब से मेरा दिमाग ठिकाने नहीं रहता।'

'यह तुम क्या कह रही हो, माँ!' कमला ने कहा—'ऐसी बातें करोगी तो मैं उठकर चली जाऊँगी।'

'नहीं बेटी, मैं ठीक कह रही हूँ'—माँ ने कहा—'तुम्हें शायद विश्वास नहीं होगा, लेकिन कभी-कभी मेरा जी करता है कि अगर वह युवक मुझे कहीं मिल जाय तो उसे तेरे पल्ले इतनी मजबूती से बाँध दूँ कि वह कहीं भागकर न जा सके!'

'नहीं माँ, दो-चार उल्टे-सीधे पत्र लिखकर तो मै यह फल भोग रही हूँ। विवाह करने पर तो न जाने क्या होगा।' कमला ने कहा और माँ के पास से चली गयी।

कमला को यह जरा भी अच्छा नहीं लगता था कि उसकी माँ अपने काम से काम न रख दुनिया भर की चिन्ता करती फिरे। फलतः जब कभी माँ उस युवक का जिक्र करतीं तो कमला ऐसा भाव प्रकट करती मानों वह कुछ समझती ही नहीं। लेकिन माँ के पास से अलग होने पर अपने कमरे की खिड़की से नित्य उसकी आँखें किसी को खोजा करती थीं। रह-रहकर वह सोचती थी कि पत्रों का भेजना एकाएक बन्द हो गया है। कौन जाने, इस कारण वह स्वयं ही एक दिन चला आये......।

(३)

तीन दिन से कमला देख रही थी कि एक अस्तव्यस्त-सा युवक उसके घर के आस-पास चक्कर लगा रहा है। युवक की वेश-भूषा और मुद्रा ऐसी थी कि कमला का हृदय उसे देखकर कुड़मुड़ाने के लिए तैयार नहीं हुआ। अपने प्रेमी की उसने जो कल्पना कर रखी थी, उस पर वह युवक फिट नहीं उतरता था। एक बार उसने सोचा कि कही यही वह युवक न हो। यदि ऐसा हुआ तो बहुत धोखा खाया। लेकिन दूसरे ही क्षण यह सोचकर वह अपने को सन्तोष देने का प्रयत्न करती कि हो सकता है, स्वयं न आकर उसने अपना कोई आदमी भेजा हो।

आखिर उस युवक से कमला की बाते भी हो गयीं। उस समय गली में अंधेरा-सा था। चुपचाप कमला नीचे उतर गयी। उसे देखते ही युवक ने आगे बढ़कर कहा—'जरा सुनिये, मैं कमला से मिलना चाहता हूँ। आप अगर उन्हें खबर दें तो...'

'क्या खबर कर दूं। आप अपना कुछ परिचय तो दीजिए।' कमला ने कहा।

'बस, आप खबर कर दीजिए। वह सब समझ जायँगी।' उसने कहा।

'अजब आदमी हैं आप भी!' कमला ने स्वर में तेजी लाते हुए कहा—'आप तो अपना परिचय दीजिए। वैसे ही मै क्या कह दूं।'

युवक के अनुरोध से बाध्य होकर अन्त में कमला घर के भीतर चली गयी। कुछ देर बाद उसने कहा—कमला ने कहा है कि किसी भी युवक से न मिलने की वह प्रतिज्ञा कर चुकी है। फलतः वह आप से भी नहीं मिल सकेगी।'

युवक ने यह सुना तो वह बहुत निराश हुआ। लेकिन उसकी यह निराशा अधिक देर तक न टिक सकी। अगले ही क्षण वह एका-एक आगे बढ़ा और कमला का हाथ पकड़कर कहने लगा—'एक बार—बस एक बार उसे.........!'

कमला एका-एक सकपकाकर झटके के साथ अपना हाथ छुड़ा भीतर भाग गयी। बहुत देर तक उसका हृदय धक्-धक् करता रहा। जब कुछ होश-हवास ठीक हुआ तो यह जानकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ कि उसका हाथ—आकस्मिक झटका लगान, के कारण अपनी पहलेवाली दशा में आ गया है।